६३२४

दिल्ली चर्चा-समीक्षा

(दयादान सम्बन्धी प्रश्नों के जैनाचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज के उत्तर तथा आचार्य श्री तुलसी के उत्तरों की समीक्षा)

सेठिया जैन ग्रन्थालय
मरोटी-सेठियों का मोहल्ला,
बीकानेर।

प्रकाशक :

दयादान प्रचारक संघ, दिल्ली

जनवरी १९५१
दिल्ली

प्रथमावृत्ति—१००
मूल्य ॥)

में बिठा कर लाया गया था । इनमें पाँच-सात अखबार नवीस और संवाददाता भी थे ।

अणुव्रती संघ के जलसे के अलावा साहित्यिक गोष्ठी आदि कई उत्सवों के मिस से दिल्ली की शिक्षित और साधारण जनता से संपर्क साधने की प्रयत्न चेष्टा की गई थी । किन्तु प्रोपेगेण्डा में अखबारों के जरिये जितनी सफलता मिली उतनी अन्य साधनों से न मिली । बल्कि कहना चाहिये कि अन्य साधनों से नहिवत ही सफलता मिली । दैनिक पत्रों में दिये हुए सत्य असत्य और अर्द्ध सत्य समाचारों से दूरस्थ जनता बड़ी-बड़ी कल्पनायें करने लग गई थी ।

आचार्य श्री तुलसी की महत्त्वाकांक्षा को यहाँ बड़ा पोषण मिला । कितनी खुशी होती यदि जैन धर्म के नाम से किया जाने वाला यह प्रचार अहिंसा के शुद्ध रूप का होता । हम जैनों को बड़ा गर्व होता कि एक जैन आचार्य भारत की राजधानी में अहिंसा के वास्तविक रूप का प्रचार कर रहे हैं किन्तु खेद इस बात का है कि जैन-धर्म का नाम लेकर एक नयी विचार धारा का प्रचार किया जा रहा है जिसका समर्थन दुनिया का कोई धर्म, मत, सम्प्रदाय और पंथ नहीं करता । पाठकों को आगे पता लगेगा कि आचार्य श्री तुलसी की क्या-क्या मान्यताएं हैं । दुनिया को आश्चर्य में डालने वाली अपनी मान्यताओं को छिपा कर अणुव्रत संघ और नैतिक-जागृति के नाम की आड़ लेकर आचार्य श्री तुलसी प्रचार में सफल हुए ।

ऐसी विचित्र मान्यताओं ... आचार्य श्री तुलसी ... राजधानी ... भारत ने दुनिया को ... सुनाना चाहते थे ... भोले भक्तों ने ... कल्पना करली थी कि महात्मा गांधी के बाद आचार्य श्री तुलसी ही उनका स्थान ग्रहण कर के अहिंसा का प्रचार कर सकते हैं । बेचारे भक्तों को क्या पता कि आचार्य तुलसी की अहिंसा कैसी अजनबी विकृत और अहिंसा का नाम

भारत के जैनेतर लोग भी तेरापंथ की असली मान्यताओं से कतई अनभिज्ञ हैं। कोई ऐसी कल्पना भी तो नहीं कर सकता कि विवेकपूर्वक जीव रक्षा या सेवादि कार्यों में पाप होता है। कई बार बड़ी अड़चन अनुभव की जाती है जब लोग यह कह देते हैं कि भला ऐसा भी कोई पंथ हो सकता है जो रक्षा और सहायता में पाप मानता हो। तुम लोग दूसरों को गिराने के लिए द्वेष वश ऐसी मन-गढ़न्त बातें कर दिया करते हो। जब तेरापन्थ के मान्य ग्रंथों के उद्धरण बताकर समझाया जाता है तब लोग विश्वास करते हैं और बड़े हैरान होते हैं।

इस कथन का यह अर्थ न लिया जाय कि आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज के अतिरिक्त अन्य लोग इस पाप मान्यता का खण्डन या विरोध नहीं करते। करते हैं मगर कम।

पूज्य श्री के आगमन से पूर्व दिल्ली स्थित मुनि श्री सुदर्शन जी अपने दैनिक भाषणों में तेरापन्थ का वास्तविक परिचय करा रहे थे। तथा पं० मुनि श्री त्रिलोकचन्द्रजी भी समय-समय पर तेरापन्थ की मान्यताओं पर प्रकाश डालते रहे हैं।

पूज्य श्री के आगमन के अनन्तर आगरा की तरफ से पधारे हुए उपाध्याय कविवर पं० मुनि श्री अमर चन्द जी महाराज ने भी दिल्ली के प्रवचनों में तेरापन्थ की संकुचित और लोकहित घातक मान्यताओं पर गहराई से प्रकाश डाला है। कविश्री ने तो आगरा की तरफ भी इस विषय का अच्छा प्रचार किया था। कवि श्री तेरापन्थ की नस को पहचान चुके हैं। इतना ही क्यों कविश्री ने राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू को भी अपनी मुलाकात में इस लोकहित नाशक विचार-धारा से अवगत करा दिया है।

श्री चन्दनराज जी सिंघी, सुजानगढ़ निवासी ने 'भीषण मान्यता' नामक ट्रैक्ट लिखकर तेरापन्थ की मान्यताओं पर अच्छा प्रकाश

दाई ने दिलको कठोर बनाकर उस कन्याको यह सलाह दी कि यदि तू दुनिया में इज्जत के साथ मुक्त विचरण करना चाहती है तो गर्भ को गिराये बिना छुटकारा नहीं है। तू उस बंदर की तरह आचरण करके उलझन से मुक्त नहीं हो सकती जो छोटे मुख के घट में रखे लड्डू को हाथ से कड़ा पकड़ लेता है और घट से छुटकारा पाना चाहता है। घट का मुख इतना छोटा है कि बंदर का खुला हाथ उसमें प्रवेश कर सकता है। लड्डू से युक्त मुष्टिबद्ध हाथ उसमें से निकलना शक्य नहीं है। लड्डू का ममत्व छोड़े बिना घट से छुटकारा नहीं हो सकता। लड्डू का भी ममत्व पूर्वक पकड़े रहना और मुक्त विचरण की भी कामना करना एक उलझन ही है। अतः प्यारी बहिन! मेरी सीखामण है कि या तो तू घर में छिप कर बैठी रह या अपने प्यारे गर्भ को गिराने की चेष्टा कर। दाई ने यह भी कहा कि बहिन! तू अपने वैभव बल के मद में मत रहना कि दुनिया मेरा क्या बिगाड़ सकती है। दुनिया बड़ी विचित्र है। वह बड़ा २ का छोटीसी भूल भी सहन नहीं कर सकती। फिर तेरी भूल तो बहुत बड़ी है और सच्ची है।

आचार्य श्री तुलसी की विचित्र धारणाओं को आचार्य श्री गणेशी लाल जी महाराज खूब समझते हैं। अच्छा हो इनकी सलाह मान कर आचार्य श्री तुलसी अपना और दूसरों का भला करें।

इस प्रकार आचार्य श्री तुलसी अपने ग्रंथों में जिस तरह लोक में दयादान का स्वरूप बताते थे वह पुस्तिका में प्रयुक्त न कर के नवीन ढंग से नैतिक स्तर ऊँचा उठाने की बात करने लगे। आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज बड़े हैरान थे कि जो आचार्य माता पिता की सेवा करने में पाप मानते हैं, दीन दुखियों की सहायता करने में पाप मानते हैं, एक मनुष्य द्वारा दूसरे को कष्ट से बचाना पाप मानते हैं, वह पुस्तिका में नैतिक स्तर ऊँचा उठाने की बात कहते हैं यह कैसी विचित्रता है। माता पिता की सेवा

लगने पर संथारा (यावज्जीवन अन्न जल का त्याग करा देना) करा देने में ही सच्ची सेवा मानने वाले अथवा उनको धर्मोपदेश सुनाने में ही वास्तविक सेवा मानने वाले और अन्न वस्त्र औषधादि द्वारा सेवा करने में पाप होने की प्ररूपणा करने वाले आचार्य श्री तुलसी राजधानी में बड़ी चतुराई से पेश आ रहे हैं। एक तरह से इस रूप में आचार्य गणेशी लाल जी महाराज प्रसन्न थे कि अल्प काल और सीमित क्षेत्र में ही सही आचार्य श्री तुलसी ने अपने तरीके में कुछ परिवर्तन तो किया है। किन्तु इस परिवर्तन का रहस्य नैतिकस्तर ऊँचा उठाना उतना नहीं जितना अपने ग्रामीण भक्तों के दिलों पर यह प्रभाव दिखाना कि हमारेमहाराज श्री दिल्ली में अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे हैं, यदि वे सिद्धान्त झूठे होते तो दिल्ली की समझदार जनता उन्हें कैसे सुनती !

इस बात में तथा अखबारी प्रोपेगण्डा में आचार्य श्री तुलसी सफल हुए यह सत्य स्वीकार करना पड़ता है।

आचार्य श्री गणेशी लाल जी महाराज अपने प्रवचनों में इतर जनोपयोगी विषयों के उपरांत प्रसंग वश तेरा पंथ की मान्यताओं का दिग्दर्शन करा दिया करते हैं। आचार्य श्री गणेशी लाल जी महाराज भावों को छिपाने में चतुर नहीं हैं। न उन को इनडाइरेक्ट तरीके से कोई बात कहना आता है। वे तो सब सुलभ सीधे-सादे तरीके से तेरापन्थ सम्प्रदाय का नाम लेकर उनके सिद्धान्त बता दिया करते हैं। सीधा और स्पष्ट तरीका, गूढ़ तरीके की अपेक्षा साधारण जनता के हृदय को अधिक छूता है। किन्तु यह तरीका विद्वान् कहे जाने वाले लोगों को अच्छा नहीं लगता। इस तरीके में वे साम्प्रदायिकपन और रागद्वेष होने की आशंका करते हैं।

कुछ विद्वान् या समझदार लोग धर्म सम्बन्धी मत मतान्तर का खंडन-मण्डन करना या सुनना ना पसंद

श्री भिक्षु स्वामी के समय सिर्फ १३ साधु एवं १३ ही श्रावक थे वहां आज आचार्य श्री तुलसी के अनुशासन में करीब साढ़े छः सौ साधु एवं साध्वियें और लाखों की संख्या में श्रावक (उपासक) हैं। तथापि सभ्यता के नाते मैं पूज्य श्री गणेशीलाल जी महाराज से नम्र निवेदन करूंगा कि राष्ट्रपति के कथनानुसार आप भी आचार्य श्री तुलसी द्वारा स्थापित अणुव्रती संघ के नियमों का प्रचार कर इस शुभ कार्य में हाथ बटाएं, जिन्हें अपनाने से मनुष्य मनुष्यत्व को प्राप्त कर सकता है, और अपने अनुयाइयों को मिथ्या प्रचार करने से फौरन् रोक दें। यदि किसी बात में मतभेद भी हो तो आचार्य श्री तुलसी से मिलकर उसका समाधान करलें।

जब पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री श्री लियाकतअली खां कराची से दिल्ली आकर भारत के प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू जी से विचार-विनिमय कर परस्पर के मनोमालिन्य को मिटा सकते हैं तो क्या पूज्य श्री गणेशीलाल जी महाराज दिल्ली में विद्यमान रहते हुए भी, आचार्य श्री तुलसीमल से फिर अपनी शंकाओं का समाधान नहीं कर सकते ? मैं तो कहूंगा अवश्य कर सकते हैं।

स्मरण रहे गन्दे प्रचार से तो परस्पर राग-द्वेष बढ़ने एवं जैन धर्म की अवहेलना होने की सम्भावना है।"

—शुभकरणसुराणा, चूरू

इस लेख को पढ़कर स्थानकवासी जैनों के दिल को गहरी चोट पहुँची। कई लोग बड़े दुःखित और उत्तेजित हो गये जिनको आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज ने शान्ति रखने का उपदेश देकर शान्त किया। दिल्ली में स्था० जैनों के करीब एक हजार घर हैं। कई शरणार्थी बन्धुओं ने भी जैनों आबादी में वृद्धि की है। जोश,ले पंजाबियों ने बड़ी कठिनाई से अपने जोश को काबू में रखा। लेख पढ़कर सबका यह अनुमान हो गया कि अवश्य इस लेख के पीछे आचार्य श्री तुलसी का हाथ है।

इस लेख में तुमकरण सुराणा ने यहाँ तक लिख डालने की हिमाकत की है कि क्यों न आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज इस एकता के जमाने में आचार्य श्री तुलसी की सेवा में उपस्थित होकर शंकाओं का निराकरण कर लेते। श्री सुराणा यह जानते हैं कि आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज की अवस्था ६१ वर्ष की है और आचार्य श्री तुलसी की ३४ वर्ष की। संवत् १९६२ के साल में जब आचार्य श्रीगणेशीलालजी महाराज ने जैनदीक्षा धारण की थी, तब आचार्य श्री तुलसी का जन्म भी न हुआ था। दीक्षावृद्ध, ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध, और अवस्था वृद्ध आचार्य श्री गणेशीलाल महाराज को आचार्य तुलसी की सेवा में उपस्थित होने का आह्वान एक धृष्टता नहीं तो क्या है? जो तेरापंथी जैनी अपनी मिथ्या धारणाओं के कारण आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज के समाज में से ही विलग होकर निकले हैं, वे आज इस प्रकार लिखने की उद्दतता करते हैं यह उनका अविनय लक्षण है।

दूसरी बात इस लेख में उन महान् आचार्यों की आशातना की गई है जिनका चारित्रमय जीवन, तपस्या और विशुद्ध जीवन प्रसिद्ध है। आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी महाराज जिन्होंने २१ वर्ष तक निरन्तर बेले-बेले पारणा किया था। उनका नाम लेकर लेखक ने अपने हृदय की क्षुद्रता का परिचय दिया है। और आचार्य श्री जवाहर! जिन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखकर दया और दान की भरपूर पुष्टि की है, तथा जो तेरा पन्थ की मान्यताओं की नाड़ के विशेषज्ञ और पूर्ण पारखी थे। जिन्होंने थली प्रदेश में विचर कर जीव रक्षा और सेवा का जैनधर्म की मान्यतानुसार निर्भीक होकर प्रचार किया था। उनसे पूछा जाता है कि आज तक कितने चूहों की बिल्ली से रक्षा की है? लेखक ऐसा मान लेता है कि साधु जीवरक्षा नहीं कर सकता। उनके गुरुओं ने उनके दिमाग में यही बात ठसा रखी है कि साधु या श्रावक मरते जीव की रक्षा नहीं कर सकते, करने पर पाप लगता है। किन्तु

जैनशास्त्रानुसार यह बात कतई गलत है,जैनशास्त्र ऐसा नहीं मानता। जैनशास्त्र तो कहता है कि अपने प्राणों को बली देने का अवसर आवे तो वही देकर भी दूसरों को रक्षा करो। जैसी तुम्हारी आत्मा है वैसी दूसरे की भी है। तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं और कोई दयालु आकर तुम्हारी रक्षा करता है तो वह तुम्हें कितना भला लगता है? वैसे ही दूसरे प्राणियोंको भी अपने प्राण प्रिय हैं। यदि वे कष्टमें हों तो उन को कष्ट मुक्त कर देना महान् अहिंसा है। इस कार्य को हिंसा कहना नितान्त अज्ञानता है। जैनधर्म के अतिरिक्त विश्व के सारे धर्म भी रक्षा और सेवा कार्य को हिंसा नहीं मानते। केवल तेरापंथ और उनके आचार्य श्री तुलसी की ही यह प्ररूपणा है कि रक्षा और सहायता पाप कार्य हैं। पाप भी साधारण कोटि का नहीं किन्तु चोरी जारी और ठगाई जितना पाप। ऐसी पाप मान्यताओं को हृदय में धारण कर कोई पन्थ कब तक टिक सकता है? हाँ, यह अर्थ युग है अतः अर्थ बल से कुछ दिन और टिक जाय। किन्तु अर्थ युग मिटकर जब साम्यवाद का युग आयेगा तब अर्थवाद के साथ यह पापवाद भी खत्म हो जायगा।

संभव है कुछ पाठकों को ये वचन कठोर प्रतीत हों। किन्तु उनसे हमारी विनय है कि वे जरा गहरे उतरकर गहराई से इन मान्यताओं की छानबीन करें तो उन्हें पता लग जायगा कि ऐसी विचार-धारा एक क्षण के लिए भी मानव समाज के लिए उपयोगी नहीं है। संसार सहयोग पर आश्रित है। एक दूसरे को सहयोग देना भी जो पाप बतावें उनका अपराध अक्षम्य होना चाहिये।

कुतर्क करके वे लोग ऐसा पूछा करते हैं, क्योंजी तुम रक्षा करने में धर्म मानते हो तो सिंह की रक्षा करने में भी मानते हो? और भूखे की आत्मा को तृप्त करने में धर्म पुण्य मानते हो तो क्या मांस खिलाने में भी मानते हो? सिंह और मांस की बात थोड़ी देर के लिए छोड़कर ऐसे कुतर्कों से उत्तर में यह पूछा जाय कि महात्मा गांधी के हत्यारे

नाथूराम गोडसे को गोली चलाने के वक्त पिस्तौल छीन लेने वाले को क्या फल होता ? पाप या पुण्य ? और भूखे की भूख बुझाने के लिए रोटी खिलाने पर क्या होता ? पाप या पुण्य ? रक्षा और सहायता में पाप की प्ररूपणा करने के लिए सिंह और सांप के दृष्टान्त देकर जनता को भ्रम में डालने की व्यर्थ चेष्टा की जाती है। जो लोग रक्षा और सहायता में सर्वथा पाप मानते हैं पुण्य का अंश भी नहीं मानते वे लोग ऐसी पुस्तकें छपाके लोगों के दिमाग खराब करते हैं। भाई शुभकरण जी का दिमाग भी ऐसी अनिष्ट धारणा के कारण विकृत बना हुआ था अतः उन्होंने अपने लेख में पूछा है कि इन आचार्यों ने कितने जीवों की रक्षा की है। यह सब आचार्य रक्षा करना परम धर्म मानते थे और मानते हैं।

आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज ने इसी दिन अपने व्याख्यान में इस लेख का स्पष्टीकरण किया। आचार्य श्री छापाखाने के धंधे में नहीं पड़ते। उनके पास जो आता है उसे समझा दिया करते हैं। आचार्य श्री ने प्रवचन में स्पष्टतया खुलासा किया कि जीव रक्षा करना परम धर्म है। हां, इसमें विवेक परम आवश्यक है। हम साधु लोग भी प्राणी-रक्षा का कार्य कर सकते हैं और करते हैं। हमारे लिए शास्त्रों ने जो मर्यादायें बांधी हैं उनका उल्लंघन न करते हुए निर्दोष साधनों से हम किसी भी कष्टग्रस्त प्राणी की रक्षा में सहयोग दे सकते हैं। ध्यानस्थ व्यक्ति की नजर भी यदि किसी सताये जाते हुए प्राणी पर पड़ जाय तो ध्यान खोलकर उसका कष्ट छुड़ाकर वापस ध्यान में आकर बैठ जाय। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। यह तो हृदय की विशालता है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का यथार्थ पाठ है। जिन लोगों का हृदय पत्थर का बना हुआ है वही यह कह सकते हैं कि 'रक्षा करना पाप है। मरने वाला अपने कर्मों को भुगत रहा है, अपना पूर्वजन्म का कर्जा चुका रहा है, तुम बीच में पड़ कर उसमें बाधा क्यों देते हो'। यह कथन शास्त्र और अनुभव विरुद्ध है।

जाने वाले की रक्षा कर देता है तो इस रक्षारूप पवित्र और अहिंसक कार्य को आचार्य श्री तुलसी पापयुक्त और हिंसामय कार्य बताते हैं। रक्षा करने वाले को पापरूप फल होना बताते हैं। इसी प्रकार शरणार्थियों और रेल दुर्घटनाग्रस्त व्यक्तियों को मरहम पट्टी या भोजनादि द्वारा सहायता करने में पाप बताते हैं। साधु से इतर सब प्राणी कुपात्र हैं अतः उनकी रक्षा करना या उनको कुछ भी सहायता पहुँचाना पापकार्य है आदि आचार्य श्री तुलसी की प्ररूपणा और मान्यता है। जबकि आचार्य श्री गणेशी लाल जी महाराज इन कामों में धर्मपुण्य मानते हैं। शुभनिष्ठा या शुभ योग तो हर काम में होना ही चाहिये। तभी वह धर्म पुण्य की कोटि में गिना जाता है। किन्तु आचार्य श्री तुलसी तो शुभनिष्ठा या शुभ योग पूर्वक भी यदि ये काम किये जाय तो इनका फल पाप होना बताते हैं। इनको राय में केवल साधु ही रक्षा और दान या सहायता का पात्र है। अन्य सब कुपात्र हैं। जबकि दोनों आचार्य एक ही शास्त्र को मानते हैं तब प्ररूपणा और आचरण में इतना भेद क्यों? महाराज! यह अच्छा अवसर है। सयोग से दोनों एक ही शहर में हैं। अतः चर्चा करके इस विवाद को मिटा दीजिये।"

स्थानकवासियों की ओर से जो कहना था वह कह दिया गया। हाँ, शुभकरण सुराणा के लेख का भी जिक्र किया गया और ऐसे भद्दे निन्दात्मक और आक्षेपात्मक लेख से आपस में कटुता और मनोमालिन्य उत्पन्न होते हैं अतः ऐसे लेख प्रकाशित नहीं होने चाहिये। आदि बातें भी कही गई। आचार्य श्री तुलसी ने स्पष्टीकरण किया कि इस लेख के जिम्मेवार सुराणा ही हैं, हमारा इसमें कोई हाथ नहीं है। (इस स्पष्टीकरण से स्थानकवासियों के मन का कुछ सन्तोष हुआ) श्री सुराणा ने ऐसा लेख प्रकाशित करके हमारे समाज में तेरा पंथ की कुसेवा ही की है। जिसके लिए आचार्य श्री तुलसी को अफसोस जाहिर करना पड़ा। श्री शुभकरण सुराणा को उस वक्त याद की गई

हुआ। स्थानकवासी भाइयों की इच्छा यह थी कि दया दान के सम्बन्ध में किसी मध्यस्थ की मध्यस्थता में लेखी या मौलिक चर्चा हो जाय। और वे इसे भी इसी लिए थे। किन्तु श्री जैनेन्द्र जी और राजेन्द्र जी की इच्छा दोनों आचार्यों का एक साथ भाषण कराने की थी। आचार्य श्री तुलसी एक शब्द भी नहीं बोले और चुपचाप बैठे रहे।

दिन के निश्चय के अनुसार रात्रि को निश्चित स्थान पर पुंगच्चा स्थगित इकट्ठे हुए। स्थानक वासी अपनी बात पर अड़े थे कि दया-दान के सम्बन्ध में चर्चा हो जाय और तेरापंथी इस बात पर अड़े हुए थे कि हमें किसी बात की शंका नहीं है। जिसे शंका हो वह हमारे आचार्य के पास आकर पूछ ले। बड़ी देर तक इस मुद्दे पर वार्तालाप होता रहा। कोई भी अपनी बात छोड़ना न चाहता था। तब करीब रात के बारह बजे श्री जैनेन्द्रकुमार जी ने एक सुझाव रखा कि 'एक मध्यस्थ समिति बनाली जाय और उसके सामने जिसे प्रश्न पूछना हो वह पूछले। इससे चर्चा और शास्त्रार्थ में जो एक दूसरे को विजित पराजित करने की भावना रहती है वह भी जाती है और शुद्ध सैद्धान्तिक चर्चा हो जायगी। दया-दान के सम्बन्ध में किस आचार्य की क्या मान्यता है यह जनता के सामने भी आ जायगा।' श्री जैनेन्द्रकुमार जी के इस प्रस्ताव को स्थानकवासी भाइयों ने मान लिया किन्तु तेरापन्थी भाई इस पर भी राजी न हुए। उनका तो एक ही कहना था कि हमें कुछ शंका ही नहीं है और न कुछ पूछना ही है। अतः इस प्रकार की समिति की क्या आवश्यकता है? जिसे शंका हो वह हमारे आचार्य जी के पास आकर पूछले। इस पर श्री जैनेन्द्रकुमार जी ने बड़ी नाराजगी जाहिर की और कहा कि 'मेरे प्रेम में कमी रहती है अतः मेरा सुझाव पसन्द नहीं किया जाता है। अच्छा है अब इस बात को यहीं पर खत्म किया जाय। आप जो ठीक समझें करें।' अब तेरापन्थियोंपर बात टूटनेकी नौबत आ गई तब बड़ी मुश्किल समिति के निर्माण पर वे राजी हुए।

भाई समिति के विरोध पर और उसमें अपना सहयोग शामिल न करने की बात पर इतना अड़े रहे ? इस में क्या रहस्य था ? पाठकों को यह ज्ञात हो चुका है कि स्थानकवासी भाई आचार्य श्री तुलसी के पास चर्चा का निमंत्रण देने गये थे। इधर श्री जैनेन्द्रजी आदि बीच में पड़े और वे चर्चा या शास्त्रार्थ में होने वाली जय-पराजय सम्बन्धी कटुता को मिटा कर आपस में प्रेम पूर्ण चर्चा कराना चाहते थे। उनका तो यह भी ख्याल था कि दोनों आचार्यों का एक साथ भी व्याख्यान कराया जाय और जनता के समक्ष अपना-अपना मन्तव्य रखा जाय। श्री जैनेन्द्र जी का मनोगत भाव चर्चा की अपेक्षा दोनों आचार्यों को निकट लाने की तरफ अधिक था। हमारा ख्याल है उस वक्त तक श्री जैनेन्द्र जी और प० राजेन्द्र जी तेरापंथ की मान्यता से अवगत न थे। वे इतना मात्र जानते थे कि तेरापथ, श्वेताम्बर समाज का एक फिरका है। छोटी-मोटी बातों में कुछ अन्तर होगा। उन्हें तब यह ज्ञान न था कि तेरापथ, जैनधर्म का आधारभूत अहिंसा सिद्धान्त में मौलिक मत भेद रखता है। 'साधु से इतर प्राणी जो कि असंयती हैं, उनके रक्षण-पोषण या किसी प्रकार की भौतिक सहायता करने में सर्वथा पाप का बंध होता है', तेरापथ की इस विचार-धारा से वे कतई अपरिचित थे। अतः उनका यह विचार ठीक था कि छोटी मोटी बातों को गौणकर के निकट आने से आपसी सम्बन्ध अच्छे बनेंगे। मगर आपसी अच्छे बुरे सम्बन्ध का यह प्रसंग ही न था। आपस में जो कश्मकश मालूम देती है वह वैयक्तिक कारणों को लेकर नहीं है किन्तु सिद्धान्तों को लेकर है। स्थानकवासी और तेरापंथी आपस में एक ही हैं। दोनों की एक ही जाति है और एक ही घर में कोई स्थानकवासी है तो कोई तेरापन्थी। स्त्री तेरापन्थी है तो पुरुष स्थानकवासी। एक भाई तेरापन्थी है तो दूसरा स्थानकवासी। इस प्रकार न केवल एक गांव में दोनों रहते हैं किन्तु एक घर में भी साथ रहते हैं। झगड़ा तो मान्यता का है। तेरापन्थी जीव दया में पाप मानते हैं। कुछ

वस्तु को पढ़ा है। यही बात एक दूसरे को अलग करती है। जब तक इसका निर्णय न हो तब तक निकट आने से भी क्या लाभ हो सकता है। आपस में दिलों को तोड़ने वाली जो वस्तु मौजूद है उसे मिटाये बिना पारस्परिक एकता कैसे हो सकती है। हमारे तेरापन्थी भाई रक्षा और सहायता में पाप मानते हैं यह निश्चित बात है।

इस कथन में जहां-जहां रक्षा या सहायता शब्द का प्रयोग किया गया है या किया जायगा वहां-वहां इनका अर्थ यह समझा जाय। १ रक्षा का अर्थ है साधु से भिन्न प्राणी के प्राण बचा लेना। अच्छी निष्ठा से और अच्छे साधन से। वह भी निःस्वार्थ भावना से, किसी बदले की इच्छा के बिना केवल आत्मवत् सर्व भूतेषु के सिद्धान्त से अनुप्राणित हो कर। २ और सहायता का मतलब है साधु से भिन्न मनुष्य पशु-पक्षी आदि प्राणियों की कष्टमय अवस्था में भोजन, वस्त्र अथवा अन्य कोई प्रकार की मदद कर के उनका कष्ट मिटा देना। जैसे कोई भूखा मनुष्य है तो उसे रोटी देकर शांति पहुँचाना, प्यासे को पानी द्वारा प्यास बुझाना, मार्ग भूले हुए को मार्ग बता कर सहायता करना, संसार में प्राणी को अनेक प्रकार की आवश्यकतायें हैं, उनमें से भली बुरी जाने वाली आवश्यकताओं की पूर्ति में मदद-गार बनना। बुरी इच्छाओं की पूर्ति में मददगार बनने की बात में पुण्य होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। उसमें तो पाप ही होता है यह सर्वमान्य बात है। किन्तु उचित रूप से पेट भर भोजन करना, बदन पर कपड़ा ढांकने के लिए वस्त्र होना, बीमारी में दवा होना और स्थान प्राप्त करना आदि साधारण आवश्यकतायें हैं। इनमें आवश्यकता पड़ने पर मददगार होना, सहायता का अर्थ है। धर्म कार्य में सहायता देने के पक्ष में कोई मत भेद नहीं है। मत भेद तो सांसारिक कार्यों में मदद करने के पक्ष में है। इसी प्रकार धर्मार्थ व प्राण रक्षा के पक्ष में मत भेद है।

हमारे तेरापन्थी भाई यह कह दिया करते हैं कि हम भी रक्षा और सहायता में धर्म पुण्य मानते हैं। किन्तु इन शब्दों का अर्थ उनकी मान्यतानुसार इतनाही है कि किसी को अपनी तरफ से न मारना ही रक्षा है। किसी के द्वारा मारे जाते हुए को बचा लेना या बचाने की भावना करना हिंसा है, पाप है। उसे अपना पाप टालना चाहिये। दूसरे को बचाना यह धर्म नहीं है, वह पाप है। इसी प्रकार अन्न वस्त्र मकान आदि की सहायता करना भी पाप है। सहायता का अर्थ इनके अनुसार धर्म मार्ग में लगा देना। भूखा हो या प्यासा हो तो उसे संथारा करा देना धर्म है। अन्न पानी देना धर्म नहीं। यह तो भोग में सहायता है योग में नहीं। इस प्रकार की भौतिक सहायता का फल कष्टों को पाप रूप ही लगता है।

यह तेरापंथ की मान्यता है। इस मान्यता को ये बड़ी चतुराई से जनता के सामने रखते हैं। इनके पूर्वाचार्य स्पष्ट शब्दों में जीव रक्षा और सहायता में पाप बता गये हैं किन्तु आचार्य श्री तुलसी तथा इनके एक दो विद्वान साधु बड़ी कुशलता से इस विषय को पब्लिक के समक्ष उपस्थित करते हैं। प्रकाशक अपनी मान्यता को अपरिचित व्यक्ति के सामने नहीं रखते। न पूछने पर ही स्पष्ट शब्दों में उत्तर देते हैं। कइयों को कह देते हैं, हम कहाँ जीव रक्षा या सहायता के कार्य में मना करते हैं कइयों को कहते हैं हम भी इन में धर्म मानते हैं। कइयों को कहते हैं, यह लौकिक फर्ज है कर्तव्य है धर्म, जैसे विवाह शादी करना है और उसमें पुण्यपाप की बात नहीं पूछते उसी प्रकार इन लौकिक कार्यों का फल क्या पूछते हो? तुम जानो तुम्हारा काम जाने। कइयों को कहते हैं कि सांसारिक कार्यों का फल पाप ही होता है आदि। विभिन्न प्रकार के लोगों के समक्ष रखने के लिए विविध प्रकार के उत्तर निश्चित किये हुए हैं। जैनों के सदस्य कहते हैं क्या साधु ये कार्य कर सकता है? यदि नहीं तो गृहस्थ द्वारा करने में पुण्य कैसे होगा? इत्यादि अनेक प्रकार के तर्कों से अपना मत

हमारे तेरापन्थी भाई यह कह दिया करते हैं कि हम भी रक्षा और सहायता में धर्म पुण्य मानते हैं। किन्तु इन शब्दों का अर्थ उनकी मान्यतानुसार इतनाही है कि किसी को अपनी तरफ से न मारना ही रक्षा है। किसी के द्वारा मारे जाते हुए को बचा लेना या बचाने की भावना करना हिंसा है, पाप है। सब अपना पाप टालना चाहिये। दूसरे को बचाना यह धर्म नहीं है, यह पाप है। इसी प्रकार अन्न वस्त्र मकान आदि की सहायता करना भी पाप है। सहायता का अर्थ इनके अनुसार धर्म मार्ग में लगा देना। भूखा हो या प्यासा हो तो उसे संथारा करा देना धर्म है। अन्न पानी देना धर्म नहीं। यह तो भोग में सहायता है योग में नहीं। इस प्रकार की भौतिक सहायता का फल कसी को पाप रूप ही बतलाते हैं।

यह तेरापंथ की मान्यता है। इस मान्यता को ये बड़ी चतुराई से जनता के सामने रखते हैं। इनके पूर्वाचार्य स्पष्ट शब्दों में जीव रक्षा और सहायता में पाप बता गये हैं किन्तु आचार्य श्री तुलसी तथा इनके एक दो विद्वान् साधु बड़ी कुशलता से इस विषय को परिषद के समक्ष उपस्थित करते हैं। एकाएक अपनी मान्यता को अपरिचित व्यक्ति के सामने नहीं रखते। न पूछने पर ही स्पष्ट शब्दों में उत्तर देते हैं। कइयों को कह देते हैं, हम कहाँ जीव रक्षा या सहायता के कार्य में मना करते हैं। कइयों को कहते हैं हम तो इन में धर्म मानते हैं। कइयों को कहते हैं, यह लौकिक फर्ज है कर्त्तव्य है अतः जैसे विवाह शादी करते हो और उसमें पुण्यपाप की बात नहीं पूछते उसी प्रकार इन लौकिक कार्यों का फल क्या पूछते हो? तुम जानो तुम्हारा काम जाने। कइयों को कहते हैं कि सांसारिक कार्यों का फल पाप ही होता है आदि। विविध प्रकार के लोगों के समक्ष रखने के लिए विविध प्रकार के उत्तर निश्चित किये हुए हैं। जैनों के समक्ष कहेंगे, क्या साधु ये कार्य कर सकता है? यदि नहीं तो गृहस्थ द्वारा करने में पुण्य कैसे होगा? इत्यादि अनेक प्रकार के तरीकों से अपना गूढ़

से इन कामों को बुरा माना जाता है। धार्मिक दृष्टि से ऐसे कार्यों का कर्त्ता अपना परलोक भी बिगाड़ता है और इस लोक में भी निन्दा का पात्र होता है और दुःख उठाता है। किन्तु जो लोग धर्म या परलोक को नहीं मानते वे भी उक्त कामों को लोक व्यवस्था की दृष्टि से बुरा कहते हैं और उनका करना निषिद्ध ठहराते हैं। इसके विपरीत ईमानदारी से आजीविका चलाना, स्व स्त्री में सन्तोष धारण करना, ठगाई न करना, मदिरापान के बजाय दुग्ध पान करना, पर प्राणी को साता उपजाना, मांस भक्षण के स्थान में निर्दोष अन्न ग्रहण करना, मार्ग भूले हुए को मार्ग बताना, माता पिता की सेवा शुश्रूषा और विनय करना, गृहस्थ अतिथि का सत्कार करना, भूखे को भोजन और प्यासे को पानी पिलाना, अतिथि का सत्कार शरणार्थी की मदद करना, बीमार को दवा देना और अनपढ़ को अक्षर ज्ञान कराना आदि भले कार्य माने जाते हैं। और इनका फल पुण्य रूप माना जाता है। इस लोक में और परलोक में इनका फल सुख रूप होता है। यह सर्ववादी सम्मत सिद्धान्त है। किन्तु हमारे तेरा पंथी भाइयों की तथा उनके गुरु आचार्य श्री तुलसी की मान्यता अद्भुत विलक्षण है। पाठकों के आश्चर्य का ठिकाना न रहेगा जब वे यह जानेंगे कि उक्त दोनों प्रकार के भले बुरे कार्यों का फल इनके सिद्धान्तों में एक ही प्रकार का है [illegible] तब भी पाप और ईमानदारी से पैसा पैदा करो तब भी पाप। पर स्त्री गमन करो तब भी पाप और स्वस्त्री सन्तोष धारण करो तब भी पाप। मांस भक्षण और मदिरा पान करो तो भी पाप और अन्न ग्रहण और दुग्धपान में भी पाप। माता-पिता के पैर दबाने में भी पाप उनको गालियाँ सुनाने में भी पाप। [illegible] ही पाप है। सांसारिक क्रिया [illegible] नहीं [illegible] विवाद नहीं है [illegible]

[illegible] विवाद नहीं है [illegible]

तब होती यदि ये उत्तर स्पष्ट शब्दों में मिलते। ये उत्तर पहेलियाँ हैं, जिन्हें साधारण जनता नहीं समझ सकती।

स्थानकवासियों के द्वारा किये गये इतने प्रयत्न के बावजूद भी आचार्य श्री तुलसी भावों को छिपाने की अपनी कला में सफल रहे। उत्तरों को पढ़कर स्थानकवासी बड़े दंग रह गये कि परोपकार के इन कामों में भी परमश्रेष्ट पाप मानते हुए भी आचार्य श्री तुलसी उत्तर देने की कला में बड़े चतुर निकले। किस कौशल से, किस प्रकार की भाषा में, भावों को छिपाने में सफलता प्राप्त की है, यह सचमुच महान् आश्चर्य की बात है। उत्तरों के पूर्व एक छोटी सी भूमिका लिखकर सफाई पेश की गई है। यह सफाई ही यह बताती है कि दाल में कुछ काला है। सफाई की क्या आवश्यकता थी। यदि प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट होता तो पाप या पुण्य शब्द के द्वारा उत्तर मिलता। किन्तु पाप शब्द में उत्तर देना इष्ट न था क्योंकि लोक अप सिर पर मंडरा रहा था और पुण्य शब्द में फल मंजूर न था क्योंकि पाप फल होने की धारणा है। आचार्य श्री तुलसी के प्रत्येक उत्तर की इस पुस्तिका में समीक्षा की गई है जिसे पढ़कर पढ़कर [illegible] सत्य का निर्णय कर सकते हैं।

अब थोड़ा आचार्य श्री तुलसी की [illegible] का [illegible] कराया जाता है जिसका [illegible] में उनके उत्तर पढ़ने में [illegible] तक पहुँचा जा सकता। उनके मान्य [illegible] के [illegible] कराई जाती है जिससे कथन की [illegible] हो सके [illegible] का [illegible] न रहे।

[illegible]

छुड़ाने का सरल तरीका है। इस उपदेश से हिंसा से घृणा और हृ
में कोमल भावों का संचार कराया जाता है।" पृ० ७

"बलात्कार में अहिंसा का अभाव है। अहिंसा में बलात्कार को स्थान नहीं है। बलात्कार केवल हिंसा का प्रतीक है। बलात्कार और अहिंसा का जातीय विरोध है। जैसे कोई पुरुष किसी निर्बल को मारने का प्रयत्न कर रहा है उसी समय कोई निष्पक्ष दयालु पुरुष उधर चला आया। आँखों के सामने होने वाली दुर्घटना को देखकर उसने अपने शक्ति सम्पन्न प्रभुत्व से उसे रोक दिया और उस निर्बल को जान बचा दी। विचारकों का कर्त्तव्य है कि इस दिशा की ओर अपनी विचार धारा को दौड़ा सत्य की खोज करें कि उसका प्राण बच गया। वह अहिंसा है या हिंसा की ही प्रवञ्चना। यदि इसे अहिंसा न कहा जाय तो फिर अहिंसा का आत्मा से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। मारने वाले की भावना चाहे द्वेष के समुद्र में गोता लगाती ही क्यों न रहे, बस केवल छूट जाना ही अहिंसा है। यह बात संगत नहीं है। अत. यह अहिंसा नहीं हिंसा ही है।" पृ० ८ ६

"हाँ, यदि इस प्रकार के कार्य को अहिंसा नहीं कहकर दुनिया का व्यवहार या दुनियावी कर्त्तव्य कहें तो हमें कोई एतराज नहीं। किन्तु उसको अहिंसा कहना सर्वथा असंगत एवं असत्य है।"

पृष्ठ १

"यह प्रश्न भी निरर्थक होगा कि यदि इसे अहिंसा नहीं मानी जावेगी तो फिर सहयोग की भावना ही नहीं रह सकती। क्योंकि, सहयोग को कायम रखने के लिए अहिंसा का स्वरूप नहीं बदला जा सकता, अन्यथा संसार से छुटकारा हो नहीं सकता।"

पृष्ठ १

जावेगा। लेखक ने जैनधर्म के विरुद्ध विचारों को जैनसिद्धान्तानुमोदित बता कर अपने नाम के साथ-साथ जैन धर्म को भी बदनाम किया है। ये विचार जैन धर्म के नहीं हैं। जैनधर्म रक्षा, दया, सहयोग और परोपकार में धर्म पुण्य मानता है। अपनी मनगढ़न्त और भ्रामक धारणा को जो जैन धर्म के नाम पर लादना बड़ा अन्याय है। इन विचारों की क्या आलोचना की जाय, ये स्वयं अपनी आलोचना हैं। लेखक ने अपने बुद्धिचातुर्य का उपयोग दया और परोपकार की भावना को नष्ट करने के लिए किस खूबी से किया है। इस प्रकार की लोकहितघातक विचारधारा से जैन धर्म लज्जित होता है, मानवता लज्जित होती है और जगत में धर्म शब्द बदनाम होता है कि उसके नाम से कैसी-कैसी विचारधारायें प्रचलित हैं।

ऊपर के उद्धरण पढ़ कर पाठक अच्छी तरह समझ चुके होंगे कि साधु के सिवा सब असंयती हैं, छः काय के शस्त्र हैं, हिंसक हैं, अतः उनका रक्षण पोषण आदि पाप है। जीव के बच जाने पर इनको कितना रंज है कि बलात्कार द्वारा छोटे जीवों की घात से बड़े जीवों की घात बता कर मूल प्रश्न को भूल में डालने की चेष्टा की गई है। जब कि स्पष्ट लिख रहे हैं व मान रहे हैं कि जीव बचाना दया नहीं है। तब [illegible] के नाम लेकर वस्तुतत्व को उलझन में क्यों डाला जाता है [illegible] और हिंसा [illegible] जीवों की हिंसा के भी [illegible] में [illegible] उनकी रक्षा या [illegible] बलात्कार आदि का नाम लेकर जनता [illegible] यदि [illegible] कुम्हार या युद्ध [illegible] रक्षण पोषण और सहायता आदि को धर्म पुण्य मानते होते तब तो बलात्कार का नाम लेना ठीक था। केवल जनता को गलत मार्ग में घसीटने के लिए बुद्धिरूपी शस्त्र का घातक उपयोग किया गया है। कोटि के शस्त्र से भी ये घातक सिद्धान्त बड़े विनाशकारी हैं।

को दूर करने में गृहस्थ अपने गृहस्थपन का कर्त्तव्य समझता है, ५ धर्म नहीं।" पृ. २३

'भोजन के द्वारा किसी को सन्तुष्ट किया गया तो उसे सत्यवेदी दया नहीं कह सकता। वह भली भाँति जानता है कि हिंसक शरीर की अशक्तता को दूर करने में अहिंसा नहीं और जहाँ अहिंसा नहीं वरन् हिंसा का अनुमोदन है, वहाँ दया कैसे हो सकती है।" पृ. २२

"असंजती जीव को जीवणो वछे ते राग, मर्यो वंछे ते द्वेष तरयो वंछे ते श्री वीतराग देव को धर्म" (भिक्षुस्वामी) इस त्रिपदी में रागद्वेष के स्वरूप का निरूपण है। असंयती वही है जो कि पूर्ण अहिंसक नहीं। उसके जीने की कामना करना और तत्सम्बन्धी खान पान परिधेय आदि जुटाना राग है।" पृ० २७

"द्वेष की भांति राग भी हिंसा है।" 'स्वामी जी का अभिप्राय है कि द्वेष से भी राग अधिक हानिकर है। पृ० २७-२८

'चोरी करने वाला चोर है—उसे चोरी कराने वाला भी चोर है क्यू कि उसके द्वारा उसे चोरी का प्रोत्साहन एवं अनुमोदन मिलता है। अपनी भांति अपने सातावाय हिंसक अन्य शरीरों को भी अरक्षा-पात करना दिया है।' पृ० ३०

"कतिपय लोगों का मन्तव्य है कि बड़े जीवों के लिए पृथ्वी पानी आदि के जीवों का वध होने पर भी वह दया है, जैसे कोई आदमी प्यास से व्याकुल है उसे पानी पिलाने में। परन्तु कुशाग्रता से विचार करने पर ये भ्रम-मूलक विचार सत्य साबित नहीं हो सकते।" पृ०

इस अहिंसा नामक पुस्तिका के मुख पृष्ठ पर 'जैन सिद्धान्त मोदित विवेचन' वाक्य भी लिखा है। जैन होने के नाते इस पुस्तिका में लिखे विचार पढ़ कर किस विचारवान् जैनी का दिल दुःख से न

जैनधर्म अन्नवस्त्र और परिधेय आदि द्वारा सहायता करने में और मरते जीव की रक्षा में धर्म-पुण्य मानता है। तेरापंथी रक्षा और परोपकार को दुनियावी कर्त्तव्य मानते हैं और दुनियावी कर्त्तव्य के पालन का फल सर्वथा पाप बंध होना मानते हैं।

माता-पिता, अध्यापक, देश नेता, श्रावक, अणुव्रती संघ का सदस्य आदि सब असंयती हैं, अतः हिंसक हैं, छ काय के शस्त्र है। भला ऐसे हिंसकों की शुश्रूषा और सहायता करना तेरापंथ के मत में धर्म कैसे हो सकता है। इसी प्रकार गायों से भरे बाड़े में आग लगने पर द्वार खोल कर गायों की रक्षा करने में न तो किसी पर बलात्कार होता है और न छोटे जीवों का घात ही होता है, फिर भी चूंकि गायें असंयती हैं—साधु नहीं हैं अतः उनको बचाना सर्वथा पाप है। मोटर की झपट व अन्य किसी प्राकृतिक कारण से मौत के मुख में फंसे हुए को शुद्ध साधन से रक्षा करने में भी पाप मानने वाले बलात्कार शब्द को क्यों लज्जित करते हैं। बलात्कार के बिना रक्षा करने में भी पाप मानते हैं फिर बलात्कार की आड़ में अपने पाप को क्यों छिपाया जाता है?

इस प्रकार के घातक और अमानवीय विचारों का यदि ये लोग अपने तक ही सीमित रखते तब भी ठीक था। किन्तु बड़े अभिमान के साथ कहते हैं कि "हमारे ये विचार कटुकटु और अप्रिय प्रतीत होते हैं फिर भी इनका प्रचार दोषयुक्त क्यों? हम शास्त्र का इच्छानुकूल नहीं होगी। तो क्या उसका प्रचार करना अन्याय है।" 'इससे परोपकार की भावना नष्ट हो जाती है तो क्या किया जाय। हम अपनी व्याख्या नहीं बदल सकते'।

इन मिथ्या विचारों का जैन धर्म के नाम के साथ प्रचार किया जा रहा है। प्रचार भी बड़े व्यवस्थित ढंग से हो रहा है। कारण कि लक्ष्मी की कृपा दृष्टि इन भाइयों पर अधिक है। लक्ष्मी इन से बड़ी प्रसन्न है क्योंकि दूसरे की भलाई के लिए एक पाई खर्च करना भी ये लोग पाप

धर्म को मान्य है। अहिंसा की संसार प्रसिद्ध व्याख्या—किसी को अपनी ओर से न सताना तथा सताये जातेहुए का रक्षण करना—जैन धर्म को पूर्णतया सम्मत है। किन्तु जैन धर्म के एक फिरके में से निकला हुआ तेरापंथ नामक एक छोटा-सा टुकड़ा अहिंसा की व्याख्या बड़ी विचित्र करता है, जिसका आचरण करने से संसार में निर्दयता और अनाचार फैल सकता है। जैसे मोटरकी झपटमें आते हुए नादान बालक को दिल कठोर करके देखते रहना निर्दयता नहीं तो क्या है? और माता-पिता जैसे महान् उपकारी पुरुषों की सेवा शुश्रूषा करने में पाप मानने वाला और पाप मान कर सेवा से विरत होने वाला जगत् में अनाचार नहीं फैलाता तो क्या करता? यदि अनाचार शब्द इसके लिए उपयुक्त न लगता हो तो किसी दूसरे शब्द का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु इस सत्य को स्वीकार करना पड़ता है कि साधु से अतिरिक्त की रक्षा और सहायता में पाप की प्ररूपणा करने वाली विचार-धारा से इस संसार में महान् अनर्थ होने की संभावना है।

अहिंसा की संसार विलक्षण व्याख्या में से ही यह सारी अनर्थ परम्परा उत्पन्न हुई है। तेरापंथ की अहिंसा की व्याख्या जगविलक्षण है, यह बात स्वयं उस समाज के सभापति स्वीकार करते हैं। देखिये—

अहिंसा पुस्तिका की भूमिका में श्री छोगमल जी चोपड़ा, सभापति, श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, २०१ हरिसन रोड, कलकत्ता लिखते हैं—

"जैन धर्म का मूल आधार अहिंसा है। यद्यपि अहिंसा को सभी धर्म किसी न किसी रूप में मानते हैं, किन्तु जैन धर्म की अहिंसा की परिभाषा सब से उच्च है। जैन सम्प्रदायों में भी श्री श्वेताम्बर तेरापंथी संप्रदाय की परिभाषा शुद्ध आम्नाय के अनुसार केवल

बड़े आश्चर्य की बात है कि स्थानकवासी समाज द्वारा नव प्रश्न आचार्य श्री तुलसी की निजी मान्यता जानने के लिए पूछे गये थे न की अन्य लोगों की मान्यता जानने के लिये। किन्तु लोकभय से निजी मान्यता शब्दों की आड़ में छिपाकर अन्यथा प्रकार से उत्तर दिया गया है।

'आध्यात्मिक क्रिया के साथ होने वाला पुण्य नहीं होता' इस वाक्य में कितना अर्थ छुपा है, यह समझ लेने की आवश्यकता है। यदि आध्यात्मिक धर्म कार्य के बिना लौकिक कार्यों में भी पुण्य होना ये मानते होते तब तो यह वाक्य उच्चारण करना उचित गिना जाता। किन्तु आध्यात्मिक धर्म के बिना ये पुण्य होना नहीं मानते। 'पुण्य' धर्म के साथ ही हो सकता है। जहाँ धर्म है वहाँ पुण्य है और जहाँ धर्म नहीं वहाँ पुण्य भी नहीं होता। पाप ही पाप होता है' यह इनका निश्चित सिद्धान्त है। फिर भी लोगों को चक्कर में डालने के लिए यह लिखना आध्यात्मिक धर्म क्रिया के साथ होने वाला पुण्य नहीं होता; माया मात्र है। इस वाक्य को पढ़कर कोई भी विद्वान् या साधारण व्यक्ति यही ख्याल कर सकता है कि आचार्य श्री तुलसी परोपकार के कार्यों में आध्यात्मिक धर्म के साथ होने वाला पुण्य होना नहीं मानते किन्तु दूसरी क्रियाओं के साथ होने वाला पुण्य मानते हैं। जब कि वास्तव में आचार्य श्री तुलसी अध्यात्म के साथ ही पुण्य मानते हैं। अन्यत्र पाप ही पाप मानते हैं।

इसके विपरीत जैन सिद्धान्त की यह मान्यता है कि आध्यात्मिक धर्म क्रिया के साथ भी पुण्य होता है और आध्यात्मिकता रहित लौकिक क्रियाओं के साथ भी। जैसे मिथ्यादृष्टि जीव अध्यात्म क्रिया नहीं कर सकता मगर पुण्य उपार्जन कर सकता है। मिथ्यात्वी द्वारा उपार्जित पुण्य अध्यात्म रहित है, फिर भी वह वास्तविक पुण्य है। यह व्यवहार कोटि का पुण्य नहीं है किन्तु नैश्चयिक पुण्य है। मिथ्यात्वियों

बड़े आश्चर्य की बात है कि स्थानकवासी समाज द्वारा जब प्रश्न आचार्य श्री तुलसी की निजी मान्यता जानने के लिए पूछे गये थे न की अन्य लोगों की मान्यता जानने के लिये। किन्तु लोकभय से निजी मान्यता शब्दों की आड़ में छिपाकर अन्यथा प्रकार से उत्तर दिया गया है।

'आध्यात्मिक क्रिया के साथ होने वाला पुण्य नहीं होता' इस वाक्य में कितना अर्थ सूल है, यह समझ लेने की आवश्यकता है। यदि आध्यात्मिक धर्म कार्य के बिना लौकिक कार्यों में भी पुण्य होना ये मानते होते तब तो यह वाक्य उच्चारण करना उचित गिना जाता। किन्तु आध्यात्मिक धर्म के बिना ये पुण्य होना नहीं मानते। 'पुण्य' धर्म के साथ ही हो सकता है। जहाँ धर्म है वहां पुण्य है और जहाँ धर्म नहीं वहाँ पुण्य भी नहीं होता। पाप ही पाप होता है' यह इनका निश्चित सिद्धान्त है। फिर भी लोगों को चक्कर में डालने के लिए यह लिखना। आध्यात्मिक धर्म क्रिया के साथ होने वाला पुण्य नहीं होता; माया जाल मात्र है। इस वाक्य को पढ़कर कोई भी विद्वान् या साधारण व्यक्ति यही ख्याल कर सकता है कि आचार्य श्री तुलसी परोपकार के कार्यों में आध्यात्मिक धर्म के साथ होने वाला पुण्य होना नहीं मानते किन्तु दूसरी क्रियाओं के साथ होने वाला पुण्य मानते हैं। जब कि वास्तव में आचार्य श्री तुलसी अध्यात्म के साथ ही पुण्य मानते हैं। अन्यत्र पाप ही पाप मानते हैं।

इसके विपरीत जैन सिद्धान्त की यह मान्यता है कि आध्यात्मिक धर्म क्रिया के साथ भी पुण्य होता है और आध्यात्मिकता रहित लौकिक अच्छी क्रियाओं के साथ भी। जैसे मिथ्यादृष्टि जीव अध्यात्म क्रिया नहीं कर सकता मगर पुण्य उपार्जन कर सकता है। मिथ्यात्वी द्वारा उपार्जित पुण्य अध्यात्म रहित है, फिर भी वह वास्तविक पुण्य है। वह व्यवहार कोटि का पुण्य नहीं है किन्तु नैश्चयिक पुण्य है। मिथ्यात्वियों

नष्ट हो जाता है। ठीक इसी तरह सामाजिक और धार्मिक दोनों कार्यों का स्वतंत्र महत्त्व है। दोनों को एक मानने से दोनों महत्व शून्य हैं।' पृ० ६

"यदि तुम ने किसी व्यक्ति को उपदेश द्वारा मछली खाने का त्याग करा दिया, फल स्वरूप मछली बची, यह धर्म नहीं है।" पृ० १०

'पूर्ण संयमी को देना ही आध्यात्मिक दान है क्योंकि वह संयम वर्धक है। शेष दान सामाजिक कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में अन्तर्निहित है।' 'राजनीति और समाज नीति से धर्म सर्वदा पृथक् है।' पृ० १०

इन उद्धरणों में भी बड़ी सफाई से अपनी पाप मान्यता छिपाई गई है। प्रश्न तो यह है कि बचाओ की भावना में तथा समाज नीति राजनीति के पालन से पुण्य बंध हो सकता है या नहीं। यह कौन जानना चाहता है कि ये आपस में भिन्न हैं या एक। धर्म और समाज नीति आदि का जैसा सम्बन्ध है वैसा रहे। अन्तर में बचाओ की भावना में तथा समाज व्यवस्था में पाप मानना और प्रकट में धर्म के साथ इन का सम्बन्ध बताकर पाप फल हानि की मान्यता छिपाना एक मात्र लक्ष्य है। सामाजिक और धार्मिक कार्यों का स्वतंत्र महत्त्व है, इस में कौन उलझन पैदा करता है। उलझन तो सामाजिक कर्त्तव्य पालन के फल के सम्बन्ध में है।

'आचार्य संत भीखण जी' लेखक श्रीचंद रामपुरिया के कुछ उद्धरण देखिये—

"अनुकंपा की ढालों में अहिंसा और दया का अपूर्व वर्णन है। अहिंसा और दया का आगम अनुसार पर मौलिक वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है और अहिंसा के एक अमर पुजारी (भीखणजी) की लेखनी से ही प्रथित हो सकता है।" पृ० ६२

" 'चतुर विचार की ढालों' 'इस दान की ढाल' और 'दान निषेध की ढाल' में दान विषय का कदिन्ना ही की तरह सूक्ष्म विवेचन है।" पृ० ६३

"स्वामी जी ने जैन धर्म के सुधारदार का बीड़ा उठाया। आठ वर्ष के दीर्घ और गंभीर शास्त्रीय चिन्तन और मनन के बाद उन्होंने शुद्ध धर्म को प्राप्त कर उसे जनता के सम्मुख रखा। सैकड़ों वर्षों से एक खास प्रकार की विचारधारा की आदी जनता इस अद्भुत प्रकार को कैसे सहन करती ?" पृ० ८४

स्वामी भीखण जी ने आठ वर्ष के दीर्घ और गंभीर शास्त्रीय चिंतन और मनन के बाद जैन धर्म का जो शुद्ध रूप प्राप्त कर के जनता के समक्ष रखा वह यह है—

"जिन कार्यों में स्वामी जी ने जिनआज्ञा को प्रमाणित-सिद्ध किया है, उन में से एक भी कार्य आप को विचित्र या अजीब नहीं दिखाई देगा और न जिन कार्यों में स्वामी जी ने आज्ञा का अभाव बताया है उन में कोई मतभेद। स्वामी जी को अच्छी तरह समझा जा सके इस लिए हम उस ढाल का भावार्थ यहाँ देते हैं:—

१ संसार में कार्य दो हैं; एक अधर्म कार्य और दूसरे धर्म कार्य। धर्म कार्यों में जिन भगवान् की आज्ञा है। अधर्म कार्यों में नहीं। परमार्थ में जिन आज्ञा है, अनर्थ में जिन-आज्ञा नहीं।

१० मन वचन और काया से त्रिविध हिंसा न करने को दया कहा है और सुपात्र को दान देना। दया और दान-मोक्ष के इन दो मार्गों में भगवान् की आज्ञा है। हिन्सा और कुदान में नहीं।

११ उपकार दो प्रकार के हैं। एक आध्यात्मिक उपकार दूसरा सांसारिक उपकार। आत्मिक उपकार में आज्ञा है। सांसारिक उपकार में नहीं।" पृ० १३, १४

नष्ट हो जाता है। ठीक इसी तरह सामाजिक और धार्मिक दोनों कार्यों का स्वतंत्र महत्त्व है। दोनों को एक मानने से दोनों महत्त्व शून्य हो जाते हैं। पृ०।

"यदि तुम ने किसी व्यक्ति को उपदेश द्वारा मछली खाने का त्याग करा दिया, फल स्वरूप मछली बची, यह धर्म नहीं है।" पृ० १०

'पूर्ण संयमी को देना ही आध्यात्मिक दान है क्योंकि वह संयम वर्धक है। शेष दान सामाजिक कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में अन्तर्निहित है।' '*राजनीति और समाज नीति से धर्म सर्वदा पृथक् है।*' पृ० १०

इन उद्धरणों में भी बड़ी सफाई से अपनी पाप मान्यता छिपाई गई है। प्रश्न तो यह है कि बचाने की भावना में तथा समाज नीति राजनीति के पालन में पुण्य बंध हो सकता है या नहीं। मैं और जानना चाहता है कि ये आपस में भिन्न हैं या एक। धर्म और समाज नीति आदि का जैसा सम्बन्ध है वैसा रहे। अन्तर में बचाने की भावना में तथा समाज व्यवस्था में पाप मानना और प्रकट में धर्म के साथ इन का सम्बन्ध बताकर पाप फल होने की मान्यता छिपाना एक मात्र छद्म है। सामाजिक और धार्मिक कार्यों का स्वतंत्र महत्त्व है इस में कौन उलझन पैदा करता है। उलझन तो सामाजिक कर्त्तव्य पालन के फल के सम्बन्ध में है।

'आचार्य संत भीखण जी' लेखक श्रीचंद रामपुरिया के कुछ उद्धरण देखिये—

"अनुकंपा की ढालों में' अहिंसा और दया का अपूर्व वर्णन है। अहिंसा और दया का आगम अनुसार पर मौलिक वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है और अहिंसा के एक अमर पुजारी (भीखणजी) की लेखनी से ही ग्रंथित हो सकता है।" पृ० ६२

"   'व्रत विचार की ढालों' 'इस दान की ढाल' और 'दान निषेध की ढाल' में दान विषय का कठिनता ही की तरह सूक्ष्म विवेचन है।" पृ० ६२

"स्वामी जी ने जैन धर्म के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया। आठ वर्ष के दीर्घ और गंभीर शास्त्रीय चिन्तन और मनन के बाद उन्होंने शुद्ध धर्म को प्राप्त कर उसे जनता के सम्मुख रखा। सैकड़ों वर्षों से एक भिन्न प्रकार की विचारधारा की आदी जनता इस अद्भुत प्रकाश को कैसे सहन करती!" पृ० ८४

स्वामी भीखण जी ने आठ वर्ष के दीर्घ और गंभीर शास्त्रीय चिंतन और मनन के बाद जैन धर्म का जो शुद्ध रूप प्राप्त कर के जनता के समक्ष रखा वह यह है—

"जिन कार्यों में स्वामी जी ने जिनआज्ञा या प्रमाणित-सिद्ध किया है, उन में से एक भी कार्य आप को विचित्र या अजीब नहीं दिखाई देगा और न जिन कार्यों में स्वामी जी ने आज्ञा का अभाव बताया है उन में कोई [illegible]। स्वामी जी को अच्छी तरह समझा जा सके इस लिए हम उस ढाल का भावार्थ यहाँ देते हैं —

९ संसार में कार्य दो हैं, एक अधर्म कार्य और दूसरे धर्म कार्य। धर्म कार्यों में जिन भगवान् की आज्ञा है। अधर्म कार्यों में नहीं। परमार्थ में जिन आज्ञा है, अनर्थ में जिन-आज्ञा नहीं।

१० मन वचन और काया से त्रिविध हिंसा न करने को दया कहा है और सुपात्र को दान देना। दया और दान-मोक्ष के इन दो मार्गों में भगवान् की आज्ञा है। हिंसा और कुदान में नहीं।

११ उपकार दो प्रकार के हैं। एक आध्यात्मिक उपकार दूसरा सांसारिक उपकार। आत्मिक उपकार में आज्ञा है। सांसारिक उपकार में नहीं।" पृ० २३, २४

तीसरी महान् भूल तेरापंथ ने सुपात्र कुपात्र का गलत वर्गीकरण करके की है। 'साधु के सिवा सब कुपात्र हैं' यह मानना जैन धर्म की अवहेलना है।

आचार्य श्री तुलसी के पूर्ववर्ती और वर्तमान साधुओं द्वारा रचित ग्रन्थों के अनेक उद्धरण देकर यह बात और अधिक स्पष्ट की जा सकती है कि उनके मत में परोपकार के कार्यों का फल एकान्त पाप रूप होता है। किन्तु विस्तार भय से रुकना पड़ता है। आशा है, इस विवेचन के बाद पाठकों को आचार्य श्री तुलसी की वास्तविक मान्यता समझ सकने में सरलता रहेगी।

लोक भय से मान्यता छिपाना कायरता है। जैसी भी मान्यता है उसे मंजूर कर के उसे बदल लेना वीरता है। आशा है आचार्य श्री तुलसी तथा उनके अनुयायी इस कटु सत्य को गले उतारने की पूरी कोशिश करेंगे। इस कटु सत्य के पीछे हमारी सद्भाव कामना निहित है। आप हमारे भाई हैं। निकटतम हैं इस ही कारण हैं से निकले हुए हमारे भूले हुए बन्धु हैं। निकटतम होने के कारण ही हम आपकी मान्यताओं से पूर्ण परिचित हैं। हम अपना आध्यात्मिक और नैतिक कर्तव्य समझते हैं कि आपको सत्य की ओर प्रेरित किया जाय। विश्वास है कि हमारे अन्तर में रहे हुए संरक्षक भावों का आप समझने का कोशिश करेंगे और अपनी मिथ्या धारणाओं में परिवर्तन कर के इह लोक और परलोक को सुधारेंगे इस पवित्र भावना के साथ यह कथन समाप्त किया जाता है।

२१-१०-४० ⎫ निवेदक—
सदर दिल्ली ⎭ पूरणचन्द दक

समीक्षा

(जैन संयोजना समिति के तीन सदस्यों द्वारा)

प्राक्कथन

(१) इसी अप्रैल मास में दिल्ली में जैन श्वेताम्बर तेरापंथी आचार्य श्री तुलसी जी का पदार्पण हुआ था। कुछ अनन्तर स्थानकवासी सम्प्रदाय के पूज्य आचार्य श्री गणेशीलालजी का भी शुभागमन हुआ। इससे जैन सिद्धान्त की अच्छी प्रभावना हुई और सार्वजनिक रूप से नगरवासियों का उस ओर ध्यान गया।

(२) लेकिन इसी के साथ यह भी ज्ञात हुआ कि जैन सिद्धांत के प्रतिपादन में, विशेष कर दया-दान सम्बन्धी मान्यता पर बीच में कुछ उलझन और असंतोष भी है। यह पत्रों और पर्चों में भी सामने आया और किंचित् क्षोभ का भी कारण बना।

(३) फलतः एक समिति का निर्माण हुआ जो एक दूसरे की शंकाओं को लेकर उभयपक्षों से उनके मंतव्य प्राप्त करे और यदि आवश्यक हो तो, अपनी ओर से प्रतिप्रश्नों को निर्माण करके विवादस्थ विषय को और भी स्पष्ट कर ले।

(४) समिति को अत्यन्त प्रसन्नता है कि उपर्युक्त दोनों पूज्य आचार्यों और दोनों पक्षों के प्रतिनिधि सदस्य श्री मोहन लाल कठौतिया एवं श्री कुन्दनलाल पारख से उसे तत्पर और हार्दिक सहयोग मिला। समिति इस कृपा के लिए उनकी आभारी एवं कृतज्ञ है।

(५) इसके साथ सम्पूर्ण प्रश्न और दोनों ओर से प्राप्त उत्तर अविकल रूप से प्रकाशित किये जा रहे हैं जिससे दोनों पक्षों की मान्यता स्पष्ट हो जाती है।

(६) समिति उन सब महानुभावों की ऋणी है जिन्होंने संयम और सहिष्णुता का बल देकर समिति को अपना काम सुचारु रूप से सफल करने में सहायता पहुँचाई है।

(ह॰) राजेन्द्र कुमार जैन (ह॰) राजकृष्ण जैन (ह॰) जैनेन्द्रकुमार

व्यक्ति चुन कर अपने में सम्मिलित कर लेने का भार छोड़ा गया। नाम यह है सर्वश्री (१) जैनेन्द्रकुमार (२) राजेन्द्रकुमार तथा (३) राजकिशन। समिति के कार्य संचालन का भार संयोजक श्री जैनेन्द्रकुमार पर रहा।

निम्नलिखित दोनों समुदायों की ओर से क्रमशः श्री कुन्दन लाल पारख तथा श्री मोहनलाल कठौतिया यथाविधि समिति के सदस्य हुए।

इसी दिन यह निर्णय भी हुआ कि १८ मई तक दोनों ओर की प्रश्नावलियाँ प्राप्त हो जायं और उन्हें यथा शीघ्र दोनों ओर के आचार्यों के मन्तव्य प्राप्त करने के लिए भेज दिया जाय।

१९ मई की संध्या को एक और बैठक श्री जैनेन्द्र कुमार के निवासस्थान पर हुई जिसमें समिति के कार्य के लिए अक्षय कुमार की नियुक्ति कार्य मन्त्री पद पर की गई।

इसी दिन समिति ने आशा व्यक्त की कि जब तक समिति का कार्य जारी है किसी प्रकार के पर्चे या प्रश्न सार्वजनिक रूप से किसी ओर से न बांटे जायेंगे और न प्रकाशित किये जायेंगे।

२० मई को पुनः संध्या समय श्री जैनेन्द्र कुमार के निवास-स्थान पर समिति की बैठक हुई जिसमें दोनों ओर से प्राप्त ६ एवं ६ प्रश्नों को ज्यों-का-त्यों आचार्यों की सेवा में भेजना निश्चय हुआ और वे अगले दिन भेज दिए गए।

एक ही समय दोनों ओर भेजी प्रश्नावलियों के उत्तर प्राप्त हो गए।

२८ मई को इन प्राप्त उत्तरों पर से ८ प्रतिप्रश्न श्री जैनेन्द्र कुमार संयोजक तथा पं० राजेन्द्र कुमार ने निर्मित किये और स्पष्टीकरण के लिए दोनों ओर पुनः भेज दिये गए

तदुपरांत समिति ने वक्तव्य सहित समस्त प्रश्नोत्तर प्रकाशित करने के लिए वक्तव्य लिखने का काम भार पं० राजेन्द्र कुमार

को सौंपा गया। उन्होंने एक अन्तिम प्रश्न पूर्ण स्पष्टीकर
अभिप्राय से १४ जुलाई को और किया जिसका उत्तर भी
ओर से प्राप्त हो गया।

इस प्रकार समिति के प्राक्कथन सहित समिति को प्र
प्रश्नोत्तर तथा प्रतिप्रश्नोत्तर सर्वसाधारण की जानकारी के लि
इस पुस्तक में प्रकाशित किए जा रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन बहुत पहले अर्थात् जुलाई म
के अन्त में ही हो जाना चाहिए था किन्तु कुछ अपरिह
कारणों से इसमें काफी विलम्ब हो गया है। इसके लिए समि
को अति खेद है।

आशा है जिस सद्भावना से प्रेरित होकर इस समिति
निर्माण हुआ था वही भावना आगे बनी रहेगी और दोन
संप्रदायों का आपसी सम्बन्ध और व्यवहार मधुर होता जाएगा

२१, दरियागंज, दिल्ली:
१०/१०/१९५०

अक्षयकुमार
कार्यमंत्री
जैन संयोजना समिति

को सौंपा गया। उन्होंने एक अन्तिम प्रश्न पूर्ण स्पष्टीकरण
अभिप्राय से १४ जुलाई को और किया जिसका उत्तर भी दो
ओर से प्राप्त हो गया।

इस प्रकार समिति के प्राक्कथन सहित समिति को प्र
प्रश्नोत्तर तथा प्रतिप्रश्नोत्तर सर्वसाधारण की जानकारी के लि
इस पुस्तक में प्रकाशित किए जा रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन बहुत पहले अर्थात् जुलाई
के अन्त में ही हो जाना चाहिए था किन्तु कुछ अपरि
कारणों से इसमें काफ़ी विलम्ब हो गया है। इसके लिए स
को अति खेद है।

आशा है जिस सद्भावना से प्रेरित होकर इस समिति
निर्माण हुआ था वही भावना आगे बनी रहेगी और
संप्रदायों का आपसी सम्बन्ध और व्यवहार मधुर होता जाय

अक्षयकुमार
कार्यमंत्री
जैन संयोजना स

२१, दरियागंज, दिल्ली:
१०/१०/१६५०

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन समाज
दिल्ली की ओर से
श्री कुन्दन लाल पारख द्वारा प्रेषित प्रश्न

नोट—नीचे लिखे प्रश्नों का उत्तर हां या ना में अर्थात् यदि पुण्यफल हो तो पुण्य और पुण्यफल न हो तो पापफल के रूप में अपेक्षित है। टेढ़ी-मेढ़ी भाषा में भावों को छिपाने की कोशिश न हो। 'पुण्य नहीं होता है' ऐसा लिखकर भाव न छिपाया जाय किन्तु 'पाप होता है' ऐसा स्पष्ट उत्तर होना चाहिए। कारण कि क्रिया का फल पुण्य न होने पर पाप होता है, दो में से कोई एक फल अवश्य होता है, जो फल हो वह विधिरूप भाषा में स्पष्ट शब्दों में अपेक्षित है। कर्त्ता को क्रिया का कोई फल अवश्य होता है। यदि दयारूप शुभ भाव से निर्जरा होती हो तो वह बतावें। पुण्य, पाप, निर्जरा, संवर जो कुछ हो उत्तर में दो टूक शब्द अपेक्षित है। ताकि साधारण जनता भी समझ सके। धर्म गुरुओं के मुख से भले-बुरे कार्यों का फलाफल सुन कर साधारण जनता कार्य में प्रवृत्ति या निवृत्ति करती है। पुण्य पाप आदि शास्त्रीय शब्दों में उत्तर अपेक्षित है। लम्बी व्याख्या में उत्तर दे कर जनता को भ्रम में न डाला जाय किन्तु जनसाधारण [illegible] समझ सके, भुलावे में न रहे, ऐसी सद्भावना से उत्तर अपेक्षित है।

: १ :

औषधालय, विद्यालय, अनाथालय, शरणार्थी कैम्प आदि को अन्न, वस्त्र, औषध और मकानादि द्वारा शुभभावना से सहायता करने वाले को पुण्य होता है या पाप ?

जैनाचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज द्वारा प्रदत्त उत्तर

(१) औषधालय, विद्यालय, अनाथालय, शरणार्थी कैम्प आदि को अन्न, वस्त्र, मकान, औषध आदि द्वारा शुभ भावना से सहायता करने वाले को पुण्य होता है। पुण्य और पाप का बन्ध सहायता करने वाले की भावना पर मुख्य रूप से आश्रित है। शुभ भावना से देने वाले को पुण्य होता है।

जैनाचार्य श्री तुलसी जी महाराज द्वारा प्रदत्त उत्तर

प्राग् वक्तव्य

प्राय अधिकतर प्रश्नों में पुण्य और पाप इन दो शब्दों में उत्तरों की मांग है, इसलिए 'आध्यात्मिक दृष्टि में' इनका क्या अर्थ है, क्या स्थान है ? यह बताना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि साधारण लोग पुण्य शब्द का बहुत महत्त्व समझते हैं और पाप शब्द को बहुत घृणित मानते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि में स्थिति ऐसी नहीं है। इसमें पुण्य और पाप का अर्थ होता है—बन्धन। पुण्य शुभ पुद्गलों का बन्धन है—सोने की बेड़ी है और पाप अशुभ पुद्गलों का बन्धन है—लोहे की बेड़ी है,

आखिर दोनों बेड़ियाँ हैं। आध्यात्मिक दृष्टि का ध्येय है—मोक्ष। यह इन दोनों के छूटने से होगा। जैन शास्त्रों में अग्नि जलाना पाप बताया गया है। भगवान् महावीर का यह आशय आत्म-भावना की अपेक्षा से है। एक व्यक्ति मंगल-उत्सव के उपलक्ष्य में दीप जलाता है, यह लोकदृष्टि में प्रायः पुण्य कार्य माना जाता है किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह पुण्य कार्य नहीं माना जाता। लोकदृष्टि में पाप शब्द का व्यवहार बहुधा नृशंसता, चोरी, व्यभिचार आदि कार्यों के लिए ही होता है। इससे यह स्पष्ट है कि जहां आध्यात्मिक दृष्टि से तत्त्व-चिन्तन के रूप में पाप शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहां लोक दृष्टि से या व्यावहारिक दृष्टि से प्रायः 'पाप' नहीं भी कहा जाता। जैसे भगवान् महावीर ने अग्नि जलाने को पाप कहा, यह आध्यात्मदृष्टि का निर्णय है, सूक्ष्म तत्त्व-चिन्तन का निष्कर्ष है। अब कोई पूछे कि मांगलिक दीप जलाने में पुण्य है या पाप? तो कहना होगा कि भाई! लोकदृष्टि में यह पुण्य कार्य कहा जाता है, आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार प्राणी का घात करना, वनस्पति को छूना पाप है और लोकदृष्टि से देश-रक्षा के लिए शत्रु से लड़ना, मान्य व्यक्तियों को पुष्प-मालायें पहनाना आदि पुण्य कार्य माने जाते हैं। इसलिए प्रत्येक क्षेत्र में पुण्य और पाप शब्द का व्यवहार अपेक्षाकृत होता है। हमें उदारता के साथ प्रश्नकर्ता का दृष्टिकोण समझना चाहिए कि वह किस अपेक्षा से किस अर्थ में किस शब्द का प्रयोग कर रहा है। स्याद्वादी के लिए यह कोई समस्या नहीं है।

निम्न कतिपय प्रश्नों के उत्तरों का आशय समझने के लिए इस 'प्राग् वक्तव्य' का मनन करना अत्यन्त आवश्यक है।

१—औषधालय, विद्यालय, अनाथालय, आदि लोक धर्म

के कार्य हैं, इसलिए ये लौकिक पुण्य कार्य कहे जाते हैं। इनके कर्त्ता को आध्यात्मिक क्रिया के साथ होने वाला पुण्य नहीं होता।

समीक्षा

स्थानकवासी संघ दिल्ली की ओर से पूछे गये प्रश्नों का तेरापन्थी आचार्य ने जो उत्तर दिये वह समिति ने स्थानकवासी संघ को नहीं बताये इसी तरह समिति के वक्तव्य के अनुसार स्थानकवासी सम्प्रदाय के द्वारा दिये गये उत्तर तेरापन्थी संघ को नहीं बताये गये। दोनों ओर के प्रश्न और उत्तर अब जैन-संयोजना नामक पुस्तिका के द्वारा समिति की ओर से प्रकाशित किये गये हैं। उन्हें देखने से यह ज्ञात हुआ कि तेरापन्थी आचार्य ने स्थानकवासी संघ के द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर देते हुए अपनी हमेशा की परिपाटी के अनुसार अस्पष्ट और गोल-मोल भाषा का प्रयोग किया है। उत्तर देने की उनकी यह गूढ़ शैली चिर अभ्यस्त है। अब स्पष्ट शब्दों में उत्तर की मांग करने पर भी उन्होंने अपनी उसी शैली का अनुसरण कर साधारण जनता को भुलावे में डालने का एक और प्रयत्न किया है। समझ में नहीं आता कि वे अपने सिद्धान्तों को जनता के सामने रखने में स्पष्ट भाषा का प्रयोग न करते हुए अस्पष्ट और गोलमोल भाषा का व्यवहार क्यों करते हैं? उनकी यह गूढ़ भाषा शैली यह बताती है कि वे अपने सिद्धान्तों को उनके असली रूप में जनता के सामने रखते हुए शरमाते हैं। और भाषा के गूढ़ आवरण से उन सिद्धान्तों के छिपाने की चेष्टा करते हुए से प्रतीत होते हैं। अस्तु। प्रयोजन इतना ही है कि उनके द्वारा दिये गये उत्तरों की भाषा और भाव इतने अस्पष्ट हैं कि सर्वसाधारण को उनकी मान्यता की स्पष्टता नहीं होती।

:सर्वसाधारण की जानकारी के लिए स्पष्टीकरण की आव-
रता है ताकि कोई भ्रम में न पड़े। इस आशय से उनके
दों की समीक्षा की जाती है:—

आचार्य श्री तुलसी के उक्त रेखांकित वाक्य के दो अर्थ हो
सकते हैं :—(१) आध्यात्मिक क्रियाओं से अतिरिक्त क्रियाओं
से भी पुण्य होता है; आध्यात्मिक क्रियाओं से होने वाला पुण्य
एक प्रकार का है और औषधालय आदि उक्त कार्यों से होने
वाला पुण्य दूसरी प्रकार का। अतः लोकधर्म के इन कार्यों में
आध्यात्मिक क्रियाओं के साथ होने वाला पुण्य तो नहीं होता
किन्तु दूसरी तरह का पुण्य अवश्य होता है। (२) पुण्य
आध्यात्मिक क्रिया के साथ ही होता है, और उक्त क्रियाएँ लोक-
धर्म की हैं अतः इनके कर्त्ता को किसी तरह का पुण्य नहीं होता,
पाप होता है

उक्त दो अर्थों में से यदि आचार्य तुलसी का अभिप्राय
पहले अर्थ में है तो बड़ी प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने अपने
सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यों की इन कार्यों में एकान्त पाप मानने की
मान्यता से ऊपर उठ कर इन्हें पुण्य कार्य मानने का सुसाहस
व्यक्त किया है। "आध्यात्मिक क्रिया के साथ होने वाला पुण्य
नहीं होता" यह वाक्य रचना यही सूचित करती है कि आचार्य
तुलसी को प्रथम अर्थ ही अभिप्रेत है। यदि उन्हें दूसरा अर्थ
इष्ट होता तो निस्संदेह शब्द रचना इस प्रकार की होती
"आध्यात्मिक क्रिया के साथ ही पुण्य होता है, इन क्रियाओं में
पुण्य नहीं किन्तु पाप होता है" ऐसा होने पर भी यदि उनका
भाव दूसरे अर्थ मे है तो कहना पड़ेगा कि उन्हें इन कार्यों
पाप मानने की अपनी परम्परागत मान्यता को स्पष्ट रूप
जनता के सामने रखने का साहस नहीं हुआ है इसलि

"आध्यात्मिक क्रिया के साथ होने वाला पुण्य नहीं होता" ऐसे गूढ़ शब्दों की ओट में जनता को भुलावे में डालने का प्रयास किया है। जब उनकी परम्परा इन लोकहित के कार्यों में पुण्य नहीं मानती तो स्पष्ट शब्दों में "पुण्य नहीं होता, पाप होता है" ऐसा कहने में क्यों हिचकिचाते हैं ?

अन्तरंग में पाप मानते हुए भी आचार्य तुलसी ऐसे कार्यों के फल के लिए 'लौकिक पुण्य शब्द' का प्रयोग करते हैं। शब्द द्राविड प्राणायाम की तरह निश्चित रूप से उनके शब्दकोष में पाप का ही पर्यायवाची है।

प्रश्न तो इतना ही है कि शुभभाव से उक्त कार्य करने से पुण्य प्रकृति साता वेदनीय आदि का बन्ध होता है या असाता वेदनीय आदि पाप प्रकृतियों का। इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर "आध्यात्मिक क्रिया के साथ होने वाला पुण्य नहीं होता" यह गोलमाल उत्तर देकर मूल प्रश्न को वैसे ही छोड़ दिया गया है। तेरापंथ की मान्यतानुसार पुण्य एक ही प्रकार का है और वह आध्यात्मिक क्रिया के साथ ही होता है। ... सहित क्रिया चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक, उससे पुण्य या पाप बन्धन रूप फल अवश्य होता है। कर्मफल बन्ध में लौकिक या आध्यात्मिक भेद नहीं होता। अत जनहित के इन कार्यों को लौकिक पुण्य कार्य कहने वालों से यह पूछना है कि इन क्रियाओं से जो बन्ध होता है वह पुण्य के शुभ पुद्गलों का होता है या पाप के अशुभ पुद्गलों का ? तब बचाव का कोई रास्ता न होने से उन्हें अपनी मान्यता के अनुसार कहना ही पड़ता है कि जीव बचाना, आदि ... से पाप के पुद्गलों का ही बंध होता है। यह ... का सच्चा रूप।

"आध्यात्मिक क्रिया के साथ होने वाला पुण्य नहीं होता" ऐसे गूढ़ शब्दों की ओट में जनता को भुलावे में डालने का प्रयास किया है। जब उनकी परम्परा इन लोकहित के कार्यों में पुण्य नहीं मानती तो स्पष्ट शब्दों में "पुण्य नहीं होता, पाप होता है" ऐसा कहने में क्यों हिचकिचाते हैं ?

अन्तरंग में पाप मानते हुए भी आचार्य तुलसी ऐसे कार्यों के फल के लिए 'लौकिक पुण्य शब्द' का प्रयोग करते हैं। यह शब्द द्राविड प्राणायाम की तरह निश्चित रूप से उनके शब्द कोष में पाप का ही पर्यायवाची है।

प्रश्न तो इतना ही है कि शुभभाव से उक्त कार्य करने से पुण्य प्रकृति साता वेदनीय आदि का बन्ध होता है या असाता वेदनीय आदि पाप प्रकृतियों का। इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर "आध्यात्मिक क्रिया के साथ होने वाला पुण्य नहीं होता" यह गोलमाल उत्तर देकर मूल प्रश्न को वैसे ही छोड़ दिया गया है। तेरापथ की मान्यतानुसार पुण्य एक ही प्रकार का है और वह आध्यात्मिक क्रिया के साथ ही होता है। योग सहित क्रिया चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक, उससे पुण्य या पाप बन्धन रूप फल अवश्य होता है। कर्मफल बन्धन में लौकिक या आध्यात्मिक भेद नहीं होता। अब जनहित के इन कार्यों को लौकिक पुण्य कार्य कहने वालों से यह पूछना है कि इन क्रियाओं से जो बन्ध होता है वह पुण्य के शुभ पुद्गलों का होता है या पाप के अशुभ पुद्गलों का ? तब बचाव का कोई रास्ता न होने से उन्हें अपनी मान्यता के अनुसार कहना ही पड़ता है कि जीव बचाना, आदि जनहित के कार्यों से पाप के पुद्गलों का ही बन्ध होता है। यह है उनकी मान्यता का सच्चा रूप।

बचाने के लिए ही जो कुछ किया जाता है वह लोक धर्म है अतः यह आध्यात्मिक धर्म के साथ होने वाले पुण्य का कार्य नहीं, लौकिक पुण्य कार्य है। गौ रक्षा को स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य श्री जवाहरलाल जी ने भी सांसारिक कार्य माना है। जैसे—"कृषि, गो रक्षा, वाणिज्य, संग्राम, कुशील......ये क्रियायें चाहे मिथ्या दृष्टि की हों या सम्यग्दृष्टि की हों, संसार के लिए ही होती हैं. इनसे मोक्ष मार्ग की आराधना न होना प्रत्यक्ष सिद्ध है।" (सद्धर्म मण्डन पृ० ४४)

समीक्षा

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य तुलसी प्राण रक्षा-जीवरक्षा को लोक दृष्टि का मुख्य लक्ष्य कहते हैं। शास्त्रकार तो कहते हैं "सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं" सब जीवों की रक्षा रूप दया के लिए भगवान् महावीर ने प्रवचन का प्रतिपादन किया है।" यहाँ शास्त्रकार तो जीवों की रक्षा को प्रवचन का हेतु—मूलाधार बता रहे हैं। क्या सकल जिन प्रवचन का मूल हेतु रूप जीव रक्षण भी आचार्य तुलसी की दृष्टि में केवल लोकदृष्टि का ही कार्य है ? यदि ऐसा है तो यह कहना होगा कि आचार्य तुलसी की आध्यात्मिक दृष्टि भगवान महावीर और गणधरों की आध्यात्मिक दृष्टि से भी विशेष उच्च कोटि की है !! हन्त ! अफसोस ! महाअफसोस ! ! जीव रक्षा के पुनीत कार्य को अन्तर से पाप मानना और ऊपर से लौकिक पुण्य कार्य कहना अहिंसा की हिंसा करना नहीं तो और क्या है ? आध्यात्मिकता के नाम पर ऊपर से गिरते हुए व मोटर की झपट में आते हुए अबोध बालक को हाथ पकड़ कर बचा लेने में लौकिक पुण्य के सुनहले नाम से रूपान्तर में पाप मानना आध्यात्मिकता का अजीर्ण है और उसकी विडम्बना

है कि ऐसा करने में ही अहिंसा की आदि से अन्त तक आरा धना है। यह तो अहिंसा का उपहास है! अहिंसा का ढोल पीटने वाले शुद्ध हृदय से अहिंसा के मर्म को समझें, यह भावना है।

: ३ :

पितृभक्ति से प्रेरित होकर पुत्र द्वारा पिता के हाथ पैर दबा देने और प्रणाम करने से पुण्य बंध होता है या पाप बंध?

आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज

पितृभक्ति से प्रेरित होकर पुत्र द्वारा पिता के हाथ पैर दबा देने से और नमस्कार करने से पुण्य होता है। पुत्र द्वारा पिता की सेवा और नमस्कार करना पुण्य कर्तव्य है। इस कर्तव्य पालन से पुण्य होता है। पाप होने की बात कहना जैन धर्म की अनभिज्ञता प्र ट करना है।

आचार्य श्री तुलसीराम जी महाराज

३—पारिवारिक जीवन बिताने वाला व्यक्ति पिता की भौतिक सेवा कर पितृ-ऋण चुकाता है, इसमें कौन-सी ऐसी विशेषता है जिसे आध्यात्मिक कहा जाय? आध्यात्मिक सेवा पिता की के जाए अथवा अन्य किसी की, वह धर्मानुगामी पुण्य है। और पितृ सम्बन्ध के नाते की जाने वाली शारीरिक सेवा या प्रणाम लौकिक पुण्य कार्य है।

समीक्षा

ऊपर प्रश्न तो किया गया है पुण्य बंध और या पाप बंध का और आचार्य उत्तर देते हैं कि इसमें क्या विशेषता है कि इसे आध्यात्मिक कहा जाय। आध्यात्मिक कहने या न कहने

है कि ऐसा करने में ही अहिंसा की आदि से अन्त तक आ धना है। यह तो अहिंसा का उपहास है। अहिंसा का ढो पीटने वाले शुद्ध हृदय से अहिंसा के मर्म को समझें, य भावना है।

: ३ :

पितृभक्ति से प्रेरित होकर पुत्र द्वारा पिता के हाथ पैर द देने और प्रणाम करने से पुण्य बंध होता है या पाप बंध?

आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज

पितृभक्ति से प्रेरित होकर पुत्र द्वारा पिता के हाथ पैर द देने से और नमस्कार करने से पुण्य होता है। पुत्र द्वारा पि की सेवा और नमस्कार करना पुण्य कर्त्तव्य है। इस कर्त पालन से पुण्य होता है। पाप होने की बात कहना जैन धर्म की अनभिज्ञता प्रकट करना है।

आचार्य श्री तुलसाराम जी महाराज

३—पारिवारिक जीवन बिताने वाला व्यक्ति पिता की भौतिक सेवा कर पितृ-ऋण चुकाता है, इसमें कौन-सी ऐसी विशेषता है, जिसे आध्यात्मिक कहा जाय? आध्यात्मिक सेवा पिता की की जाए अथवा अन्य किसी की, वह धर्मानुगामी पुण्य है। और पितृ सम्बन्ध के नाते की जाने वाली शारीरिक सेवा या प्रणाम लौकिक पुण्य कार्य है।

समीक्षा

ऊपर प्रश्न तो किया गया है पुण्य बंध और या पाप बंध का और आचार्य उत्तर देते हैं कि इसमें क्या विशेषता है कि इसे आध्यात्मिक कहा जाय। आध्यात्मिक कहने या न कहने

? क्या दोनों कभी एक समान हो सकते हैं ?
अनबुम राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा।'
ठीक-ठीक ऐसा मानने वालों पर चरितार्थ

में साधु साध्वी श्रावक और श्राविका को गुण
कहा गया है। ऐसी अवस्था में यह कहना कि—
ी अनेरो कुपात्र थे। अनेरा ने दीधां अनेरी प्रकृ-
दयो ते अनेरी प्रकृति पाप नी छे (भ्रमविध्वंसन

दान, मांसादिक सेवन, व्यसन, कुशीलादिक यह
मार्ग के पथिक है जैसे चोर, जार, ठग यह तीनों
व्यसायी हैं उसी तरह कुपात्र दान भी मांसादि सेवन,
कुशीलादि की श्रेणी में गणना करने योग्य है
० पृ० ८२)"

न्थ के प्रवर्त्तक भीषण जी के अनुगामी आचार्य जीत
की कितनी भीषण प्ररूपणा है ! शास्त्र वर्णित गुणरत्नों
और श्रमण भूत विशेषण से अलंकृत प्रतिमाधारी
को चोर, जार और ठग की तरह दान की अपेक्षा कुपात्र
ी में रखकर उसे दान देने में मांस भक्षण और वेश्या
जैसा भयंकर पाप मानना विवेक हीनता की पराकाष्टा है।
ी थोड़ी भी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति उक्त गुण सम्पन्न
धारी श्रावक को [illegible] पात्र नहीं मान सकता। अतः ऐसे
को कुपा[illegible] ाकर उसे आहारादिक देने में पाप
[illegible] ाया है।

र का [illegible] ी वात्सल्य
ी ([illegible] अन्नवस्त्रादि

स्थान कहा गया है। और प्रतिमाधारी श्रावक के लिये श्रमणभूत जैसा उच्चतम विशेषण प्रयुक्त किया गया है। अतः श्रावक को कुपात्र बताकर उसे दिये जाने वाले आहार पानी का फल पाप बताना शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा है।

एक श्रावक (अणुव्रती) द्वारा स्वधर्मी वात्सल्य से प्रेरित हो कर दूसरे श्रावक की अन्न, वस्त्र औषध और मकानादि द्वारा सहायता करना पुण्य है पाप नहीं। यह प्राणी जगत् पारस्परिक सहयोग पर आश्रित है। निष्काम भाव से सहायता या सेवा करना जैन धर्मानुसार पुण्य कार्य है और पुण्य बंध का कारण है।

आ० श्री तुलसीराम जी महाराज

४—प्रतिमाधारी श्रावक और अणुव्रती संघ के सदस्य मोक्षार्थ दान के अधिकारी हैं ही नहीं। स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य श्री जवाहरलाल जी ने भी यह माना है "जो जिस दान के पात्र नहीं हैं वह उस दान का वहाँ अक्षेत्र समझा जाता है जैसे मोक्षार्थ दान का साधु से भिन्न जीव अक्षेत्र है।" (सद्धर्ममण्डन पृष्ठ ६४) इसलिए इन कार्यों में धर्मानुबंधी पुण्य नहीं होता।

समीक्षा

तेरापन्थी सम्प्रदाय के मत के अनुसार केवल साधु ही सुपात्र हैं और सब कुपात्र हैं। प्रतिमाधारी श्रावक, अणुव्रती संघ का सदस्य सब इसी तरह कुपात्र हैं जैसे चोर, जार, ठग आदि। इस अंधेरी नगरी जैसी व्यवस्था के लिए क्या कहा जाय? कहाँ तो [illegible] श्रावक प्रतिमाधारी को शास्त्रकारों ने 'समणभूत' (साधु समान) कहकर बताया हो है और कहाँ घोर व्यभि-

द्वारा सहायता करता है तो जैन धर्म के अनुसार वह पुण्य कार्य है, पाप कार्य कदापि नहीं। ऐसा करने से पुण्य प्रकृति का बंध होता है। पाप प्रकृति का बंध नहीं होता।

आचार्य तुलसी कहते हैं कि श्रावक और अणुव्रती मच के सदस्य मोक्षार्थ दान के अधिकारी हो नहीं। यद्यपि "तथा रूप श्रमण माहण को शुद्ध ऐषणिक दान देने से एकान्त निर्जरा होती है, इस भगवती सूत्र के पाठ में आये हुए 'माहण' शब्द (जिसका अर्थ है अहिंसा में विश्वास रखने वाला) से श्रावक का भी ग्रहण किया जा सकता है। तथापि थोड़ी देर के लिए श्रावक को मोक्षार्थ दान का अधिकारी नहीं भी मानें तो भी प्रवचन प्रभावना और स्वधर्मी वत्सलता के नाते सहायता का अधिकारी है ही ये समकित के लक्षण और आचार है। मैत्री भाव और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त से भी श्रावक सहायता का पात्र है।

ठाणाङ्ग सूत्र में क्षेत्र अक्षेत्र वर्षी मेघ की चौभंगी बताई गई है। एक मेघ क्षेत्र में बरसता है, अक्षेत्र में नहीं, एक अक्षेत्र में बरसता है क्षेत्र में नहीं। एक क्षेत्र में भी बरसता है और अक्षेत्र में भी बरसता है और एक न क्षेत्र में बरसता है और न अक्षेत्र में। इसी तरह दाता पर यह चौभंगी लागू की गई है। इस चौभंगी के तीसरे अंग का स्वामी महान उदार चेता बताया गया है। जो प्रवचन की प्रभावना के लिए उदार बनकर क्षेत्रा-क्षेत्र का भेद न करता हुआ मुक्त हस्त से दान देता है और ऐसे मुक्तदान के द्वारा कई अपात्रों को भी अपने दान से प्रभावित कर शासन की प्रभावना करता है। चोर ठग वेश्या आदि को उनके पाप कर्मों से छुड़ाने के आशय से दान देकर उन्हें पाप से बचा लेता है और अपने धर्म की प्रभावना करता है ऐसा व्यक्ति

द्वारा सहायता करता है तो जैन धर्म के अनुसार वह पुण्य कार्य है, पाप कार्य कदापि नहीं। ऐसा करने से पुण्य प्रकृति का बंध होता है। पाप प्रकृति का बंध नहीं होता।

आचार्य तुलसी कहते हैं कि श्रावक और अणुव्रती संघ के सदस्य मोक्षार्थ दान के अधिकारी हो नहीं। यद्यपि "तथा रूप श्रमण माहण को शुद्ध ऐषणिक दान देने से एकान्त निर्जरा होती है, इस भगवती सूत्र के पाठ में आये हुए 'माहण' शब्द (जिसका अर्थ है अहिंसा में विश्वास रखने वाला) से श्रावक का भी ग्रहण किया जा सकता है। तथापि थोड़ी देर के लिए श्रावक को मोक्षार्थ दान का अधिकारी नहीं भी मानें तो भी प्रवचन प्रभावना और स्वधर्मी वत्सलता के नाते सहायता का अधिकारी है ही ये समकित के लक्षण और आचार है। मैत्री भाव और 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त से भी श्रावक सहायता का पात्र है।

ठाणाङ्ग सूत्र में क्षेत्र अक्षेत्र वर्षी मेघ की चौभंगी बताई गई है। एक मेघ क्षेत्र में बरसता है, अक्षेत्र में नहीं, एक अक्षेत्र में बरसता है क्षेत्र में नहीं। एक क्षेत्र में भी बरसता है और अक्षेत्र में भी बरसता है और एक न क्षेत्र में बरसता है और न अक्षेत्र में। इसी तरह दाता पर यह चौभंगी लागू की गई है। इस चौभंगी के तीसरे अंग का स्वामी महान उदार चेता बताया गया है। जो प्रवचन की प्रभावना के लिए उदार बनकर क्षेत्रा-क्षेत्र का भेद न करता हुआ मुक्त हस्त से दान देता है और ऐसे मुक्तदान के द्वारा कई अपात्रों को भी अपने दान से प्रभावित कर शासन की प्रभावना करता है। चोर ठग वेश्या आदि को उनके पाप कर्मों से छुड़ाने के आशय से दान देकर उन्हें पाप से बचा लेता है और अपने धर्म का प्रभावना करता है ऐसा व्यक्ति

समीक्षा

आचार्य तुलसी का कथन है कि अन्न, पानी, स्थान, वस्त्र, शयन आदि सामग्री साधु जीवन की आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखने वाले हैं। परन्तु यह बात नहीं है। इनकी आवश्यकता तो गृहस्थ को भी होती है और श्रावक को भी होती है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि ये साधु जीवन के लिए ही उपयोगी हैं अतः साधुओं को ही देने से पुण्य होने का शास्त्रकार का दृष्टिकोण है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ को तो इनके अतिरिक्त भी रुपया पैसा स्त्री आदि की आवश्यकता होती है अतः रुपया पुण्य, गाय पुण्य आदि की भी पुण्यों में गणना की जानी चाहिए थी। इसका उत्तर यह है कि ये पुण्य साधु के लिये ही मानने के पक्ष में भी यही बाधा आ सकती है। साधु का पात्र, औषध आदि देने से भी आप पुण्य मानते हैं परन्तु इन नौ पुण्यों में पात्र पुण्य, औषध पुण्य तो नहीं गिनाया गया है। जैसे उपलक्षण से साधु की सामग्रियों का ग्रहण किया जाता है। इसी तरह उप लक्षण से गृहस्थ के लिए आवश्यक वस्तुओं का भी ग्रहण किया जाता है। अतः आचार्य तुलसी का यह युक्ति कि इसमें साधु जीवन के लिए उपयोगी पदार्थों का ही गणना है अतः उन्हें देना ही पुण्य है और साधु से इतर गृहस्थ को दान ज्ञान आदि का देना पाप है, यार्थी और निस्सार है। अतः यह मानना चाहिये कि साधु जैसे उत्तम पात्र को भी शुभ भावना से अन्न वस्त्रादि देने से तीर्थंकर नाम जैसी विशिष्ट पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है और गृहस्थादि को शुभ भावना से देने से सातावेदनीयादि पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है।

इस प्रश्न के उत्तर में आ० श्री तुलसी स्पष्ट स्वीकार कर रहे हैं कि साधुओं को देने से ही पुण्य होता है, दूसरों को देने से

समीक्षा

आचार्य तुलसी का कथन है कि अन्न, पानी, स्थान, वस्त्र, शयन आदि सामग्री साधु जीवन की आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखने वाले हैं। परन्तु यह बात नहीं है। इनकी आवश्यकता तो गृहस्थ को भी होती है और श्रावक को भी होती है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि ये साधु जीवन के लिए ही उपयोगी हैं अतः साधुओं को ही देने से पुण्य होने का शास्त्रकार का दृष्टिकोण है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ का तो इनके अतिरिक्त भी रुपया पैसा स्त्री आदि की आवश्यकता होती है अतः रुपया पुण्य, गाय पुण्य आदि की भी पुण्यों में गणना की जानी चाहिए थी। इसका उत्तर यह है कि ये पुण्य साधु के लिये ही मानने के पक्ष में भी यही बाधा आ सकती है। साधु को पात्र, औषध आदि देने से भी आप पुण्य मानते हैं परन्तु इन नौ पुण्यों में पात्र पुण्य, औषध पुण्य तो नहीं गिनाया गया है। जैसे उपलक्षण से साधु की सामग्रियों का ग्रहण किया जाता है। इसी तरह उपलक्षण से गृहस्थ के लिए आवश्यक वस्तुओं का भी ग्रहण किया जाता है। अतः आचार्य तुलसी की यह युक्ति कि इसमें साधु जीवन के लिए उपयोगी पदार्थों की ही गणना है अतः उन्हें देना ही पुण्य है और साधु से इतर गृहस्थ या दीन हीन आदि को देना पाप है, थोथी और निस्सार है। अतः यह मानना चाहिये कि साधु जैसे उत्तम पात्र को भी शुभ भावना से अन्न वस्त्रादि देने से तीर्थंकर नाम जैसी विशिष्ट पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है और गृहस्थादि को शुभ भावना से देने से सातावेदनीयादि पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है।

इस प्रश्न के उत्तर में आ० श्री तुलसी स्पष्ट स्वीकार कर रहे हैं कि साधुओं को देने में ही पुण्य होता है, दूसरों को देने से

आ० श्री गणेशी लाल जी महाराज

(७) शुभ योग से ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, समाजधर्म, लौकिक उपकार, सांसारिक कर्त्तव्य आदि लोकोपकार के काम करने से पुण्य होता है। कर्त्ता यदि विवेकपूर्वक उक्त कार्यों का सदुपयोग करे तो ये मोक्ष मार्ग में साधक हो सकते हैं।

आ० श्री तुलसीराम जी महाराज

७—ग्राम-धर्म आदि कार्यों में जो जहाँ अहिंसात्मक होते हैं वे वहाँ पुण्य के कारण हैं और जहां हिंसात्मक होते हैं वहाँ पाप के। अतः ये कार्य मोक्षमार्ग के साधक भी हो सकते हैं और बाधक भी।

समीक्षा

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भी आचार्य श्री तुलसी ने अपने असली भावों को वाक् कौशल से छिपाया है। उनके मत के अनुसार ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, समाजधर्म, सांसारिक भले कार्य आदि लौकिक धर्म हैं, लोकोत्तर धर्म नहीं हैं। लौकिक धर्म के कार्य भगवान् की आज्ञा बाहर के कार्य हैं अतः उनके संपादन में पुण्य नहीं हो सकता, पाप ही होता है। पुण्य तो लोकोत्तर धर्म संपादन करने में है। आचार्य श्री तुलसी प्राण रक्षा आदिको लौकिक पुण्य कार्य कहते हैं मगर उनका फल तो अशुभ कर्म वर्गणा का बंध अर्थात् पाप ही बताते हैं।

फिर भी आचार्य श्री तुलसी कहते हैं कि 'ग्राम धर्म आदि में जो जहां अहिंसात्मक हैं वे वहां पुण्य के कारण हैं और जो हिंसात्मक हैं वे पाप के कारण हैं।' यदि यह बात सत्य है तब तो नीचे के दृष्टान्त में पाप रूप फल न होना चाहिये।

आ० श्री गणेश लाल जी महाराज

(७) शुभ योग से ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, समाजधर्म, लौकिक उपकार, सांसारिक कर्त्तव्य आदि लोकोपकार के काम करने से पुण्य होता है। कत्ता यदि विवेकपूर्वक उक्त कामों का सदुपयोग करे तो ये मोक्ष मार्ग में साधक हो सकते हैं।

आ० श्री तुलसीराम जी महाराज

७—ग्राम-धर्म आदि कार्यों में जो जहाँ अहिंसात्मक होते हैं वे वहाँ पुण्य के कारण हैं और जहां हिंसात्मक होते हैं वहाँ पाप के। अतः ये कार्य मोक्षमार्ग के साधक भी हो सकते हैं और बाधक भी।

समीक्षा

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भी आचार्य श्री तुलसी ने अपने असली भावों को वाक् कौशल से छिपाया है। उनके मत के अनुसार ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, समाजधर्म, सांसारिक भले कार्य आदि लौकिक धर्म हैं, लोकोत्तर धर्म नहीं हैं। लौकिक धर्म के कार्य भगवान की आज्ञा बाहर के कार्य हैं अतः उनके संपादन में पुण्य नहीं हो सकता, पाप ही होता है। पुण्य तो लोकोत्तर धर्म संपादन करने में है। आचार्य श्री तुलसी प्राण रक्षा आदिको लौकिक पुण्य कार्य कहते हैं मगर उनका फल तो अशुभ कर्म वर्गणा का बंध अर्थात् पाप ही बताते हैं।

फिर भी आचार्य श्री तुलसी कहते हैं कि 'ग्राम धर्म आदि में जो जहां अहिंसात्मक हैं वे वहां पुण्य के कारण हैं और जो हिंसात्मक है वे पाप के कारण हैं।' यदि यह बात सत्य है तब तो नीचे के दृष्टान्त में पाप रूप फल न होना चाहिये।

: ६ :

"जैनमात्र, असंयती (गृहस्थ) के खान-पान को हिंसा मानते हैं" इस बात में आप कहाँ तक सहमत हैं और क्यों ? तथा स्थानकवासी और तेरापंथियों में दयादान को लेकर क्या मत-भेद है ?

आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज

(१) जैन धर्म विवेक प्रधान धर्म है। अतः जो गृहस्थ आत्मविकास के क्षेत्र में प्रगति करने के लिये भोजन पान आदि का विवेकपूर्वक उपयोग करते हैं, उनका खानपान हिंसा नहीं है। इसके विपरीत इन्द्रिय पोषण की भावना से अविवेकपूर्वक जो भोजनादि किया की जाती है, वह हिंसा है।

अतः यह मानना कि 'जैनमात्र, गृहस्थ के खान-पान को हिंसा मानते हैं' जैन संस्कृति की परम्परा के सर्वथा प्रतिकूल है। खाने-पीने की अपेक्षा खाने-पीने के पीछे रही हुई भावना में हिंसा, अहिंसा अधिक आश्रित है।

स्थानकवासी और तेरापंथियों में दयादान को लेकर जो मत-भेद है वह संक्षेप में बताया जाता है -

(क) स्थानकवासी समाज साधु, सदाचारी गृहस्थ तथा सम्यग्दृष्टि श्रावक को सुपात्र मानता है तथा इन सब की शुभ भाव से सेवा सत्कार तथा सहायता करने में धर्म एवं पुण्य मानता है, पाप नहीं। साधु के अतिरिक्त अन्य किसी गृहस्थ या दूसरे प्राणी को संकट काल में अनुकम्पा बुद्धि से अन्न वस्त्रादि देने तथा अन्य सुख-सुविधा पहुँचाने में पुण्य मानता है जब कि तेरापंथ समाज एक मात्र साधु को ही सुपात्र मानता है और साधु के सिवा सबको कुपात्र मानता है। फलतः साधु के

स्थानकवासी सम्प्रदाय के दयादान के दृष्टिकोण में प्राणरक्षा का और शरीर-रक्षा का जितना ध्यान रखा जाता है उससे कहीं अधिक उन मरते हुए एवं कष्ट पाते हुए जीवों को होने वाले आर्त्तरौद्र रूप अशुभ ध्यान से हटाकर समाधि में स्थापित करने का लक्ष्य रहता है। आचारांग सूत्र में भगवान् ने कहा है कि सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, मरना सबको अप्रिय है अतः मरते हुए जीव को दुःख होता है। दुःखी जीव आर्त्त और रौद्र ध्यान करता है जिसके कारण कर्मों का बन्ध होता है। उन दुःखी जीवोंको बचानेवाला व्यक्ति उनके प्राण और शरीर की रक्षा तो करता ही है परन्तु सबसे अधिक आर्त्त रौद्र ध्यान से बचाकर उसके आत्मा की रक्षा करता है। अतः यह कहना कि "स्थानकवासी सम्प्रदाय के दयादान का दृष्टिकोण आत्म-शुद्धि की अपेक्षा शरीर-पोषण और शरीर-रक्षा पर अधिक भार दिया जाता है" मिथ्या है। आत्मौपम्य की भावना से प्रेरित होकर बचाने वाला मरते हुए जीव के प्राणों की रक्षा करता है। यह आत्मौपम्य की भावना आत्मा को शुद्ध बनाने वाली है। अतः प्राणरक्षा में आत्मशुद्धि का लक्ष्य रहता है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय शुभ भावना मय दानदया को हिंसात्मक नहीं मानता। जिस प्रकार रेल, मोटर, बैलगाड़ी आदि वाहनों में बैठकर मुनिदर्शन के लिए आने वाले व्यक्ति का मुनिदर्शन हिंसक नहीं माना जाता जो कि उक्त वाहनों के उपयोग में हिंसा अवश्य भावी है। उसी तरह दयादान की भावना स्वयं हिंसात्मक नहीं है चाहे उसके व्यक्तीकरण के साधनों में आरम्भ हो। आरम्भ को आरम्भ मानना और शुभ दयादान की भावना को निरवद्य मानना यह स्थानकवासियों की सुसंगत मान्यता है।

स्थानकवासी और तेरापन्थियों के दयादान सम्बन्धी दृष्टिकोण में स्पष्ट रूप से यह भेद है—

समीक्षा

जैनधर्म का दृष्टिकोण अति उदार और व्यापक है। उसमें किसी तरह की संकीर्णता को अवकाश नहीं है। वह किसी सम्प्रदाय या जाति के महात्म्य को स्वीकार नहीं करता। वह किसी भी सम्प्रदाय या जाति का आग्रह नहीं रखता। किसी भी धर्म-सम्प्रदाय का, किसी भी देश या जाति का और किसी भी श्रेणी का व्यक्ति धर्म एवं मोक्ष की आराधना कर सकता है। यह जैन-धर्म की स्पष्ट उद्घोषणा है :—

सेयम्बरो य आसम्बरो य बुद्धो वा अहवा वि कोवि।
समभावभावी-अप्पा लहई मोक्खं न संदेहो॥

श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो या कोई भी सम्प्रदाय का माननेवाला हो, जो समभाव की आराधना करने वाला आत्मा वह अवश्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। जैनधर्म में 'अन्यलिंग सिद्धा' का कथन किया गया है इस पर से भी जैनधर्म की उदारता प्रगट होती है। जैनदृष्टि के अनुसार जो कोई भी व्यक्ति विवेक पूर्वक (सम्यग्ज्ञान सहित) अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करता है वह धर्म और मोक्ष की आराधना करता है। इससे उसकी आत्म शुद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि की साधना यदि विवेक पूर्वक की जाती है तो ही वह धर्म हो सकती है, अन्यथा नहीं। सम्यग्ज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया से ही आत्म शुद्धि हो सकती है।

"अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य की साधना से प्रत्येक व्यक्ति की आत्मशुद्धि होती है, उसकी यह साधना धर्म है" यह आचार्य तुलसी का कथन जैन दृष्टि से विपरीत है। जैनदृष्टि में सम्यग्ज्ञान के बिना जो क्रियाएँ की जाती हैं वे अन्ध क्रियाएँ हैं।

श्री श्वेताम्बर तेरापन्थ जैन समाज दिल्ली की ओर से श्री मोहनलाल कठोतिय द्वारा प्रेषित प्रश्न

: १ :

जैन सिद्धान्तों में विश्वास न रखने वाले व्यक्ति वैदि बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम सिद्धान्तों में विश्वास रखते अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करते हैं तो उस क्रि से उनकी आत्मशुद्धि होती है या नहीं? अर्थात् उनकी क्रिया धर्म है या नहीं?

आ० श्री गणेशीलाल जी महाराज

१—यदि वैदिक, बौद्ध, ईसाई तथा मुसलमान आदि शुद्ध रूप से अहिंसा, सत्य तथा ब्रह्मचर्यादि का पालन करते हैं तो उस क्रिया से उनकी आत्म-शुद्धि होती है अर्थात् उनकी यह क्रिया धर्म है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक अहिंसा सत्यादि का पालन धर्म है। जैन, बौद्ध, वैदिकादि साम्प्रदायिक दृष्टि से लिये जाने वाले नामों का कोई भी महत्त्व नहीं है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक की गई अहिंसादि क्रिया धर्म है।

आ० श्री तुलसीराम जी महाराज

१—*अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य की साधना से प्रत्येक व्यक्ति की आत्मशुद्धि होती है, उसकी वह साधना धर्म है, चाहे वह किसी भी धर्म सम्प्रदाय में विश्वास रखनेवाला क्यों न हो?*

११

समीक्षा

जैनधर्म का दृष्टिकोण अति उदार और व्यापक है। उसमें किसी तरह की संकीर्णता को अवकाश नहीं है। यह किसी सम्प्रदाय या जाति के महात्म्य को स्वीकार नहीं करता। यह किसी सम्प्रदाय या जाति का आग्रह नहीं रखता। किसी भी सम्प्रदाय का, किसी भी देश या जाति का और किसी भी [illegible] धर्म एवं मोक्ष की आराधना कर सकता है। यह जैन[illegible] की स्पष्ट उद्घोषणा है :—

सेयम्बरो य आसम्बरो य बुद्धो वा अन्नो वि कोवि ।
समभावभावी-अप्पा लहइ मोक्खं न संदेहो ॥

श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो या कोई भी सम्प्रदाय माननेवाला हो, जो समभाव की आराधना करने वाला आत्मा ह अवश्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसमें तनिक भी संदेह ों है। जैनधर्म में 'अन्यलिंग सिद्धा' का कथन किया गया है पर से भी जैनधर्म की उदारता प्रगट होती है। जैनदृष्टि के नुसार जो कोई भी व्यक्ति विवेक पूर्वक (सम्यग्ज्ञान सहित) हिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करता है वह धर्म और क्ष की आराधना करता है। इससे उसकी आत्म शुद्धि [illegible] त्पर्य यह है कि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि [illegible] दि विवेक पूर्वक की जाती है तो ही वह [illegible] न्यथा नहीं। सम्यग्ज्ञान पूर्वक की जाने [illegible] ात्म शुद्धि हो सकती है।

"अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य की [illegible] ात्मशुद्धि होती है, उसकी यह [illegible] लसी का कथन जैन दृष्टि से [illegible] ान के बिना जो क्रियाएँ की [illegible]

उनसे आत्मशुद्धि नहीं हो सकती। मोक्षमार्गमें उनका कोई मूल्य नहीं है। जब तक साध्य और लक्ष्य का सही-सही निर्णय नहीं हो जाता यहां तक की लक्ष्य हीन प्रवृत्ति का कोई महत्त्व नहीं होता। जो व्यक्ति अपने गन्तव्य स्थल का ही निर्णय नहीं कर सका है उसके इधर-उधर भ्रमण करने का जैसे कोई महत्त्व नहीं होता इसी तरह लक्ष्य हीन क्रियाओं का भी कोई महत्त्व नहीं होता। क्रियाओं में महत्त्व नहीं है। महत्त्व, क्रिया के कर्ता की भावना में है। कर्ता यदि अज्ञानी है तो उसकी क्रिया का क्या महत्त्व है?

जिस व्यक्ति को आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं है, जिसने सच्चा विवेक नहीं प्राप्त किया है, जिसे आध्यात्मिकता और भौतिकता का भेद ज्ञान नहीं हुआ है, जो धर्म के स्वरूप को [illegible] जानता है तथा आत्माभिमुखी [illegible]
क्रियाएँ कर ले उनमें उसके [illegible] है
वे क्रियाएँ सत्य लक्ष्य के [illegible]
हीन साधना [illegible] में
उनका [illegible]
की [illegible]

उनसे आत्मशुद्धि नहीं हो सकती। मोक्षमार्गमें उनका कोई मूल्य नहीं है। जब तक साध्य और लक्ष्य का सही-सही निर्णय नहीं हो जाता वहां तक की लक्ष्य हीन प्रवृत्ति का कोई महत्त्व नहीं होता। जो व्यक्ति अपने गन्तव्य स्थल का ही निर्णय नहीं कर सका है उसके इधर-उधर भ्रमण करने का जैसे कोई महत्त्व नहीं होता इसी तरह लक्ष्य हीन क्रियाओं का भी कोई महत्त्व नहीं होता। क्रियाओं में महत्त्व नहीं है। महत्त्व, क्रिया के कर्ता की भावना में है। कर्ता यदि अज्ञानी है तो उसकी क्रिया का क्या महत्त्व है?

जिस व्यक्ति को आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं है, जिसने सच्चा विवेक नहीं प्राप्त किया है, जिसे आध्यात्मिकता और भौतिकता का भेद-ज्ञान नहीं हुआ है, जो धर्म के स्वरूप को नहीं जानता है तथा आत्माभिमुखी नहीं है। वह चाहे जितनी बाह्य क्रियाएँ कर ले इनमें उसकी आत्मशुद्धि नहीं हो सकती है। उसकी ये क्रियाएँ सत्य लक्ष्य के अभिमुख नहीं होतीं अतः उसकी विवेकहीन भावना को धर्म नहीं कहा जा सकता है अतः दृष्टि में उसका कोई महत्त्व नहीं होता। वह पुण्य बंध कर के स्वर्गादि की प्राप्ति कर सकता है किन्तु भवछेद नहीं कर सकता। जो व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को समझ कर आत्मशुद्धि की भावना से सम्यग्ज्ञान पूर्वक अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि की भावना करता है तो उसकी भावना धर्म है, इसमें कोई संदेह नहीं है। परन्तु यदि वह आत्मस्वरूप को नहीं जानता है उसमें सच्चा विवेक नहीं है तो उसकी अहिंसादिक की भावना द्रव्य भावना है। आत्माभिमुख भावना न होने से वह धर्म नहीं है। हाँ देह-दमन आदि से पुण्य उपार्जन हो सकता है। परन्तु उस भावना को धर्म नहीं कहा जा सकता। विवेकहीन भावना को कभी धर्म नहीं माना जा सकता।

तेवीसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ के युग में विवेक हीन साधनाओं का दौर-दौरा था—कोई वृक्ष पर लटक र साधना करता था, कोई काँटों पर सोता था कोई पंचाग्नि जला कर तप करता था और इनमें ही धर्म मान लिया जाता था। उस समय पार्श्वनाथ भगवान् ने स्पष्ट घोषित किया कि विवेक हीन सम्यग्ज्ञान रहित तपश्चर्या साधना-धर्म नहीं है। वह देह-दण्ड मात्र है। उस से आत्मा का कुछ भी उत्थान नहीं हो सकता है। अतः पार्श्वनाथ भगवान् ने विवेक मय साधना को ही धर्म बतलाया था। इससे यही सिद्ध होता है कि अहिंसा सत्य आदि की विवेक हीन साधना धर्म नहीं है और जो विवेक पूर्वक अहिंसा सत्य आदि की आराधना की जाती है वह धर्म है। शास्त्रकार ने इसी भाव को इस रूप में व्यक्त किया है—

मासे मासे उ जो बालो कुसग्गेणेव भुंजए।
न सो सुअक्खायधम्मस्स कलमग्घई सोलसिं॥

अज्ञानी (विवेक रहित) जीव मास-मास भर तक निराहार रहे और पारणे में कुश के अग्र भाग पर आ सके इतना ही स्वल्प आहार लेकर पुनः मासखमण करे ऐसी कठोर साधना करने पर भी वह सु-आख्यात धर्म की सोलहवीं कला (अंश मात्र) को भी नहीं प्राप्त कर सकता है।

इसका तात्पर्य यह है कि विवेक रहित ऐसी कठोर साधना भी धर्म की श्रेणी में नहीं है। जब तक श्रद्धा शुद्ध नहीं है, आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं है वहाँ तक उसकी प्रवृत्ति में धर्म नहीं हो सकता है। आगम में कहा गया है कि—

नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न होन्ति चरणगुणा

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह तीनों ही मोक्षमार्ग हैं अर्थात् धर्म है। जिसे आत्मस्वरूप की सच्ची श्रद्धा नहीं है वह सम्यग्दर्शन वाला ही नहीं है, सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना क्रिया में सम्यक्‌पना नहीं आ सकती अर्थात् सम्यक् चारित्र नहीं हो सकता।

अज्ञानी जीव में सम्यग्दर्शन नहीं होता अतः सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के अभाव में उसकी क्रियाएँ सम्यक् नहीं होती। अतः वह कैसी भी क्रिया करे उसमें धर्म नहीं हो सकता। मिथ्यादृष्टि की क्रिया सम्यग्ज्ञान-दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग से बाहर है अतः वह धर्म नहीं है। जो सम्यग्दर्शन सम्यग्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र के अन्तर्गत है वही धर्म है।

जैसे मिथ्यादृष्टि का जानना ज्ञान नहीं बल्कि अज्ञान है इसी तरह मिथ्यादृष्टि की अहिंसा आदि की साधना वस्तुतः अहिंसादि की साधना ही नहीं है, द्रव्यक्रिया मात्र है। जैसे विवेक हीन पागल मनुष्य कभी ठीक-ठीक बात भी कहता है तो भी उसका वह कथन पागलपन ही गिना जाता है क्योंकि उसे सत्-असत् का विवेक नहीं है इसी तरह मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) भी कभी अहिंसा आदि की साधना करता है तो भी वह धर्म नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसमें आत्म विवेक नहीं होता है। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।

जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य दर्शनकारों ने भी ज्ञान [illegible] क्रिया को ही धर्म [illegible] है। [illegible] आदि [illegible] [illegible] जा सकते हैं परन्तु [illegible] से

किये गये हैं । विशेष जिज्ञासु 'सद्धर्ममण्डन' में यह देख सकते हैं ।

निष्कर्ष यह है कि आचार्य तुलसी द्वारा साधना मात्र से आत्मशुद्धि होना और धर्म होना मानते हैं यह जैन शास्त्र से विपरीत है । तेरापन्थ की यह मान्यता है कि मिथ्या दृष्टि अज्ञानी भी अहिंसा सत्य की आराधना करता है और उसकी यह आराधना धर्म है । यह मान्यता सर्वथा विपरीत है । जिसे सत्य विवेक नहीं है वह सच्चे अर्थों में अहिंसादि की आराधना ही नहीं कर सकता है अतः विवेक हीन साधना में धर्म मानना सर्वथा असंगत है ।

सत्य यह है कि विवेक पूर्वक-सम्यग्ज्ञान पूर्वक अहिंसा सत्य, ब्रह्मचर्य आदि की साधना की जाय तो उससे आत्म शुद्धि होती है और यह धर्म है । जैसा कि पूज्य आचार्य श्री जवाहरलाल जी म० ने अपने उत्तर में स्पष्ट प्रकट किया है । आचार्य श्री द्वारा दिया गया उत्तर ही यथार्थ जैन दृष्टिबिन्दु को प्रकट करता है

: २ :

शुभयोग की प्रवृत्ति के बिना पुण्य हो सकता है या नहीं ? हो सकता है तो वह किस प्रकार ? [illegible]

[illegible]

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह तीनों ही मोक्षमार्ग हैं अर्थात् धर्म है। जिसे आत्मस्वरूप की सच्ची श्रद्धा नहीं है वह सम्यग्दर्शन वाला ही नहीं है; सम्यग्दर्शन के विना सम्यक् ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना क्रिया में सम्यक्त्वता नहीं आ सकती अर्थात् सम्यक् चारित्र नहीं हो सकता।

अज्ञानी जीव में सम्यग्दर्शन नहीं होता अतः सम्यग्ज्ञान भी नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के अभाव में उसकी क्रियाएँ सम्यक् नहीं होती। अत वह कैसी भी क्रिया करे उसमें धर्म नहीं हो सकता। मिथ्यादृष्टि की क्रिया सम्यग्ज्ञान-दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग से बाहर है अत वह धर्म नहीं है। जो सम्यग्दर्शन सम्यग्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र के अन्तर्गत है वही धर्म है।

जैसे मिथ्यादृष्टि का जानना ज्ञान नहीं बल्कि अज्ञान है इसी तरह मिथ्या दृष्टि की अहिंसा आदि की साधना वस्तुतः अहिंसादि की साधना हा नहीं है, द्रव्यक्रिया मात्र है। जैसे विवेक हीन उन्मत्त मनुष्य कभी ठीक-ठीक बात भी कहता है तो भी उसका वह कथन पागलपन ही गिना जाता है क्योंकि उसे सत्-असत् का विवेक नहीं है इसी तरह मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) भी कभी अहिंसा आदि की साधना करता है तो भी वह धर्म नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसमें आत्म विवेक नहीं होता है। तत्वार्थ सूत्र में कहा गया है–

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।

जैन धर्म के अतिरिक्त अन्यदर्शनकारों ने भी ज्ञान सहित क्रिया को ही धर्म माना है। कठोपनिषद् आदि के उद्धरण दिये जा सकते हैं परन्तु विस्तारभय से यहाँ उद्धृत नहीं

योग प्रवृत्ति के निरोध को संवर कहते हैं उसमें किसी प्रकार भी बंध नहीं होता। अशुभ योग प्रवृत्त से अल्पमात्रा में पुण्य बंध होता है और अधिक मात्रा में पाप बंध। अतः वह पाप बंध ही कहा जाता है। प्रथम गुणस्थानवर्ती जीवों में शुभ योग भी होता है अतः वे पुण्यबंध कर सकते हैं। पुण्य बंध के लिये यह नियम नहीं है कि वह धर्म के साथ ही हो। प्रत्येक संसारी जीव को प्रति समय अनन्तानन्त कर्म वर्गणा की अकाम निर्जरा होती है किन्तु मोक्षमार्ग में उसकी कोई भी कीमत नहीं है। पुण्य और निर्जरा दोनों साथ होते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि को पुण्यबंध के समय सकाम निर्जरा होती है और मिथ्यादृष्टि को अकाम निर्जरा। वीतराग दशा को छोड़कर केवल पुण्य का बंध नहीं हो सकता।

आ० श्री तुलसीराम जी महाराज

२- शुभयोग की प्रवृत्ति के बिना पुण्य नहीं होता, क्योंकि वह धर्म का अविनाभावी कार्य है। शैलेषी अवस्था में केवल निर्जरा ही होती है। अन्यत्र पुण्य और निर्जरा साथ ही होते हैं। अर्थात जहाँ पुण्य होता है वहाँ निर्जरा अवश्य होती है।

समीक्षा

शुभयोग की प्रवृत्ति के बिना पुण्य नहीं होता प्राय यह ठीक है परन्तु इसके लिए आचार्य तुलसी ने जो हेतु दिया है वह मिथ्या है। कहते हैं कि पुण्य धर्म का अविनाभावी कार्य है। यह कथन शास्त्र से असंगत है। शास्त्रकारों ने धर्म के दो रूप बताये हैं जैसा कि स्थानाङ्ग सूत्र में कहा गया है—दुविहे धम्मे पण्णत्ते तं जहा सुयधम्मे चेव चरित्तधम्मे चेव। श्रुत और चारित्र रूप से धर्म के दो प्रकार हैं। जहाँ श्रुत और चारित्र है वहीं धर्म

है। इसके अतिरिक्त धर्म नहीं रह सकता है। जो मिथ्यादृष्टि जीव है उनमें श्रुत चारित्र रूप धर्म तो नहीं पाया जाता है परन्तु उन्हें पुण्य हो सकता है जिसके कारण वे नौग्रैवेयक तक जा सकते हैं। मिथ्या दृष्टि जीव में पुण्य तो होता है परन्तु श्रुत चारित्र धर्म नहीं होता अतः पुण्य को धर्म का अविनाभावी कार्य बताना मिथ्या है।

आचार्य श्री तुलसी ने समिति के प्रति प्रश्न नं० २ का उत्तर देते हुए कहा है कि शुभ योग के लिए मोह कर्म का क्षय-क्षयोपशम और उपशम होना चाहिए तो उनके कथनानुसार मिथ्या दृष्टि में शुभ योग नहीं पाया जा सकता। क्योंकि मिथ्यादृष्टि के मोह का क्षयादि नहीं होता। और शुभ योग के बिना पुण्य नहीं होता है तो मिथ्या दृष्टियों को पुण्य बन्ध किस से होता है जिससे वे नौग्रैवेयक तक जा सकते हैं? अतः आचार्य तुलसी के इन कथनों में परस्पर विरोध और असंगति है। आचार्य तुलसी की शुभयोग की व्याख्या भी असंगत है और पुण्य को धर्म का अविनाभावी कार्य कहना भी युक्ति शून्य है।

तेरापन्थ सम्प्रदाय ने शास्त्रप्रसिद्ध श्रुत-चारित्र रूप धर्म की उपेक्षा कर धर्म के दो नवीन भेदों की कल्पना की है। वे संवर धर्म और निर्जरा धर्म रूप से दो प्रकार का धर्म मानते हैं। धर्म के ये भेद अपूर्ण और असंगत हैं। विवक्षा भेद से धर्म के विविध भेद किये जा सकते हैं परन्तु वे भेद ऐसे होने चाहिए जिनमें धर्म का समग्र स्वरूप समाविष्ट हो सके। संवर धर्म और निर्जरा रूप धर्म के दो भेद करने से धर्म का समग्ररूप इसके अन्तर्गत नहीं आ सकता है। जैन सिद्धान्त में ज्ञान और क्रिया या सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यग् चारित्र को मोक्ष मार्ग अर्थात् धर्म माना है। इस समग्र धर्म स्वरूप का संवर और निर्जरा के अन्दर समावेश नहीं होता है क्योंकि सम्यग्ज्ञान या

श्रुत रूप धर्म का निर्जरा में समावेश नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि संवर ज्ञानदर्शन पृथक ही होता है अतः ज्ञान का समावेश संवर में हो जाता है तब तो मोक्ष मार्ग का समग्र स्वरूप ज्ञान-दर्शन चारित्र संवर में ही समाविष्ट हो जाता है तो फिर संवर ही धर्म है ऐसा कहना भी पर्याप्त है निर्जरा को अलग मानने की आवश्यकता नहीं। चारित्र में ही इसका समावेश हो जाता है। और चारित्र का अन्तर्भाव संवर में हो ही जाता है। फिर इन दो भेदों की साथकता क्या हुई ?

तेरापन्थ मिथ्यादृष्टियों की निर्जरा को धर्म मान लेता है और उसे धर्म मान कर उनके पुण्य को उस निर्जरा धर्म का अविनाभावी कार्य बताता है। इस निर्जरा धर्म की अपेक्षा यदि पुण्य को धर्म का अविनाभावी अंग मान लिया जाय तब तो पाप को भी धर्म का अविनाभावी कार्य मानना पड़ेगा। क्योंकि निर्जरा तो शुभ कर्मों की भी होती है और अशुभकर्मों की भी होती है। जब अशुभकर्मों की निर्जरा होती है तब प्राय पुण्य बंध होता है और जब शुभकर्मों की निर्जरा होती है तब प्राय. पाप बंध होता है। इस तरह निर्जरा के साथ जैसे पुण्य होता है वैसे ही पाप भी होता है। यदि निर्जरा की अपेक्षा पुण्य को धर्म का अविनाभावी कार्य कहा जा सकता है तो उसी निर्जरा धर्म की अपेक्षा पाप को भी धर्म का अविनाभावी कार्य क्यों नहीं कहा जा सकेगा ? इसलिए निर्जरा धर्म की अपेक्षा से पुण्य को धर्म का अविनाभावी कार्य बतलाना सर्वथा मिथ्या है।

: ३ :

क्या साधु धर्मशाला, औषधालय, अनाथालय आदि बनवाने का, इनको बनाने के लिए धनराशि एकत्रित करने का, इन प्रवृत्तियों में दान देने का उपदेश कर सकते हैं ? यदि हाँ, तो इसका शास्त्रीय आधार क्या है ? यदि नहीं तो क्यों ?

है तो लोकधर्म में और दुष्कर्म में क्या भेद है ? ज्ञान प्रचार के लिए पुस्तकालय खोलना भी पाप है और ज्ञान के साधन रूप पुस्तकों को नष्ट करना भी पाप है। माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा करना भी पाप है और उनको दुःख देना भी पाप है। राष्ट्र की सेवा करना भी पाप है और राष्ट्र द्रोह करना भी पाप है। क्या-अजीब-सी इनकी व्यवस्था है। लोकधर्म को एकान्त पाप मानना जैन शास्त्रों से विपरीत है।

: ५ :

जिस क्रिया से पुण्य होता है, वह क्रिया धर्म है या नहीं ? यदि वह क्रिया धर्म नहीं है तो (पूज्य जवाहिरलालजी महाराज के तत्त्वावधान में की गई) दूसरे सूत्र कृतांग की हिन्दी टीका के पृष्ठ १५८ पर "जिन कार्यों से पुण्य की उत्पत्ति होती है, उसे धर्म कहते हैं।" ऐसा क्यों लिखा गया ? यदि वह क्रिया धर्म है तो (पूज्य जवाहिरलाल जी महाराजकृत) सद्धर्ममण्डन के पृष्ठ १३४ पर "शास्त्र में साधु को दान देने से निर्जरा लिखी है और हीन दीन जीवों को दान देने से पुण्य बंध कहा है" ऐसा लिखकर पुण्य और निर्जरा (धर्म) की भिन्नता क्यों बताई ?

आ० श्री गणेशी लाल जी महाराज

(५) जिस क्रिया से पुण्य होता है वह क्रिया धर्म है भी और नहीं भी। सम्यग्ज्ञान पूर्वक की गई क्रिया से धर्म होता है और मिथ्याज्ञान पूर्वक की गई क्रिया से धर्म नहीं होता है। किंतु पुण्य हो सकता है। धर्म और पुण्य की व्याप्ति नहीं है। धर्म के बिना भी पुण्य हो सकता है। अतः सद्धर्म मंडन और सूत्र-कृतांग में दर्शित धर्म पुण्य में कोई विरोध नहीं है।

आ० श्री तुलसीराम जी महाराज

५—जिस क्रिया से पुण्य होता है वह क्रिया धर्म है।

समिति की ओर से प्रेषित प्रति-प्रश्न

: १ :

पुण्य तथा पाप के लक्षण क्या हैं ? (शास्त्राधार से)

जैनाचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज

द्वारा प्रदत्त प्रति-प्रश्नों के उत्तर

(१) पुण्य और पाप शब्दों का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। जब इन का प्रयोग कर्म-प्रकृतियों के साथ होता है तब अनुकूल प्रकृतियों को पुण्य कहा जाता है और प्रतिकूल प्रकृतियों को पाप। पुण्य प्रकृतियां ४२ हैं और पाप प्रकृतियां ८२। (प्रज्ञापना पृ. ४६३)।

जब इनका प्रयोग क्रिया के साथ होता है तो आत्मा को अधोगति में ले जाने वाली क्रिया पाप कही जाती है और शुभ गति के साथ साथ आत्म शुद्धि की ओर ले जाने वाली क्रिया को पुण्य कहा जाता है।

जैनाचार्य श्री तुलसी जी महाराज द्वारा

प्रदत्त प्रति-प्रश्नों के उत्तर

१—सत्प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट कर्म-पुद्गलों को पुण्य कहते हैं। असत्प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट कर्म-पुद्गलों को पाप कहते हैं।

समीक्षा

समिति ने ... पुण्य ...
पूछी है ताकि ...

किया जा सके। जैसे जीवरक्षा-प्राणरक्षा करना पाप है या पुण्य? यह विवादास्पद विषय है। तेरापन्थ सम्प्रदाय प्राणरक्षा करने में एकान्त पाप कहता है। वह इसमें पुण्य होना नहीं मानता है जब कि स्थानकवासी सम्प्रदाय प्राण रक्षा को पुनीत कार्य समझ कर उसमें पुण्य होना मानता है। आचार्य तुलसी का यह उत्तर इस विषय का कुछ भी स्पष्ट निर्देश नहीं करता है। वे कहते हैं कि सत् प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट कर्म पुद्गलों को पुण्य कहते हैं? यह तो ठीक है परन्तु सत् प्रवृत्ति वे किसे मानते हैं? मरते हुए जीव को बचा कर उसे आर्त्तरौद्र ध्यानों से बचाना सत् प्रवृत्ति है या नहीं? मोटर की झपट में आते हुए बालक को हाथ पकड़ कर बचा लेना सत् प्रवृत्ति है या नहीं? गुण्डे के द्वारा धर्म भ्रष्ट की जाती हुई सती महिला को उसके शील की रक्षा के हेतु उसके पंजे से छुड़ाना सत्प्रवृत्ति है या नहीं? प्यास के मारे मरते हुए जीव को निरवद्य उपायों से बचा लेना सत्प्रवृत्ति है या नहीं? दीन-हीन प्राणियों को अनुकम्पा बुद्धि से दान देना सत्प्रवृत्ति है या नहीं?

तेरापन्थी सम्प्रदाय इन सब को असत् प्रवृत्ति मानता है तभी तो इन कार्यों में वह एकान्त पाप की प्ररूपणा करता है। एकान्त पाप का फल नरकादि दुर्गति की प्राप्ति है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय उक्त कार्यों को सत्प्रवृत्ति मानता है। इन में पुण्य होना मानता है। पुण्य का फल स्वर्गादि की प्राप्ति है।

: २ :

शुभयोग, अशुभ योग, और शुद्धोपयोग के क्या लक्षण हैं?

(शास्त्राधार से)

समिति की ओर से प्रेषित प्रति-प्रश्न

: १ :

पुण्य तथा पाप के लक्षण क्या हैं ? (शास्त्राधार से)

जैनाचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज
द्वारा प्रदत्त प्रति-प्रश्नों के उत्तर

(१) पुण्य और पाप शब्दों का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। जब इन का प्रयोग कर्म-प्रकृत्तियों के साथ होता है तब अनुकूल प्रकृत्तियों को पुण्य कहा जाता है और प्रतिकूल प्रकृतियों को पाप। पुण्य प्रकृतियां ४२ हैं और पाप प्रकृतियां ८२। (प्रज्ञापना पृ. ७३)।

जब इनका प्रयोग क्रिया के साथ होता है तो आत्मा को अधोगति में ले जाने वाली क्रिया पाप कही जाती है और शुभ गति के साथ साथ आत्म शुद्धि की ओर ले जाने वाली क्रिया को पुण्य कहा जाता है।

जैनाचार्य श्री तुलसी जी महाराज द्वारा
प्रदत्त प्रति-प्रश्नों के उत्तर

१—सत्प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट कर्म-पुद्गलों को पुण्य कहते हैं। असत्प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट कर्म-पुद्गलों को पाप कहते हैं।

समीक्षा

समिति ने शास्त्राधार से पुण्य और पाप की स्पष्ट व्याख्या पूछी है ताकि उसके आधार से विवादास्पद विषयों का विचार

किया जा सके। जैसे जीवरक्षा-प्राणरक्षा करना पाप है या पुण्य ? यह विवादास्पद विषय है। तेरापन्थ सम्प्रदाय प्राणरक्षा करने में एकान्त पाप कहता है। वह इसमें पुण्य होना नहीं मानता है जब कि स्थानकवासी सम्प्रदाय प्राण रक्षा को पुनीत कार्य समझ कर उसमें पुण्य होना मानता है। आचार्य तुलसी का यह उत्तर इस विषय का कुछ भी स्पष्ट निर्देश नहीं करता है। वे कहते हैं कि सत् प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट कर्म पुद्गलों को पुण्य कहते हैं ? यह तो ठीक है परन्तु सत् प्रवृत्ति वे किसे मानते हैं ? मरते हुए जीव को बचा कर उसे आर्त्तरौद्र ध्यान से बचाना सत् प्रवृत्ति है या नहीं ? मोटर की झपट में आते हुए बालक को हाथ पकड़ कर बचा लेना सत् प्रवृत्ति है या नहीं ? गुण्डे के द्वारा धर्म भ्रष्ट की जाती हुई सती महिला को उसके शील की रक्षा के हेतु उसके पंजे से छुड़ाना सत्-प्रवृत्ति है या नहीं ? प्यास के मारे मरते हुए जीव को निरवद्य उपायों से बचा लेना सत्प्रवृत्ति है या नहीं ? दीन-हीन प्राणियों को अनुकम्पा बुद्धि से दान देना सत्प्रवृत्ति है या नहीं ?

तेरापन्थी सम्प्रदाय इन सब को असत् प्रवृत्ति मानता है तभी तो इन कार्यों में वह एकान्त पाप की प्ररूपणा करता है। एकान्त पाप का फल नरकादि दुर्गति की प्राप्ति है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय इन कार्यों को सत्प्रवृत्ति मानता है। इन में पुण्य होना मानता है। पुण्य का फल स्वर्गादि की प्राप्ति है।

: ३ :

शुभयोग, अशुभ योग और शुद्धोपयोग में क्या अन्तर है ?

(राजनगर में)

आ० श्री गणेशीलाल जी म०

(२) मन वचन और काया के जिस व्यापार से पुण्य प्रकृ-
तियों का बंध हो तथा आत्मा उत्थान की ओर जाय उसे शुभ योग
कहते हैं। जिस से पाप प्रकृतियों का बंध हो तथा आत्मा अधो-
गति की ओर जाय उसे अशुभ योग कहते हैं। योग की शुभा-
शुभता भावना पर ही आश्रित है। शुद्धोपयोग की चर्चा क
इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध ज्ञान चेतना
के साथ है।

म० श्री तुलसीराम जी महाराज

—शरीर-नाम-कर्म के उदय वीर्यान्तराय कर्म के क्षय-क्षयोप-
शम तथा मोहकर्म के उपशम-क्षय क्षयोपशम से होने
वाली आत्म प्रवृत्ति को शुभ योग कहते हैं।

शरीर नाम कर्म के उदय, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोप-
शम तथा मोह कर्म के उदय से होने वाली आत्म-प्रवृत्ति
को अशुभ योग कहते हैं।

आगम में 'शुद्धोपयोग' नामक कोई पृथक् तत्व नहीं
बतलाया है, शुद्धोपयोग सत्प्रवृत्त्यात्मक माना जाय तब
तो वह अबंध हो गया हो नहीं सकता क्योंकि जहाँ
सत्प्रवृत्ति होती है, वहां पुण्य का आस्रव होता है।
शुद्धोपयोग यदि अबंध-अवस्था है तो वह संवर का ही
दूसरा नाम है

समीक्षा

शुभ योग की व्याख्या में आचार्य तुलसी ने शरीर नाम
कर्म के उदय वीर्यान्तराय कर्म के क्षय क्षयोपशम के साथ मोह
कर्म के उपशम-क्षय क्षयोपशम को भी आवश्यक बताया है
लेकिन यह व्याख्या शास्त्रों में या टीकाओं में कहीं नहीं की

मानते हैं; दूसरी जगह वे जहाँ कहीं भी हिंसा-बचाव की भावना या प्रवृत्ति रहती है उसे शुभयोग मानते हैं। इस तरह मिथ्यात्वी में भी शुभयोग सिद्ध होता है।

आचार्य तुलसी के वचनों से ही उनके द्वारा की गई शुभयोग की व्याख्या गलत सिद्ध होती है। प्रश्न में शास्त्राधार से उत्तर की मांग की गई है। आचार्य तुलसी ने अपनी व्याख्या के लिए कोई शास्त्रीय आधार नहीं बताया है। सत्य तो यह है कि उसके लिए कोई शास्त्रीय आधार है ही नहीं।

: ३ :

क्या पुण्य तथा पाप का शुभ अथवा अशुभ योग के साथ कार्य-कारण सम्बन्ध है? यदि है तो किस प्रकार से? अर्थात् कौन-कौन कारण हैं और कौन-कौन कार्य है?

आ० श्री गणेशीलाल जी महाराज

(३) साधारणतया अशुभ योग को पाप का कारण माना जाता है और शुभ योग को पुण्य का। किन्तु यह एकान्तिक नियम नहीं है। पुण्य के साथ पाप का और पाप के साथ पुण्य का भी बंध होता है। उपरोक्त व्यवहार का कारण आधिक्य है।

आ० श्री तुलसीराम जी महाराज

३—पुण्य तथा पाप का शुभ अथवा अशुभ योग के साथ कार्य-कारण सम्बन्ध है। शुभ-अशुभ योग कारण हैं और पुण्य पाप कार्य। जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है :—

'शुभः पुण्यस्य-अशुभः पापस्य'।

भी हैं। हैं तो क्या ? आचार्य तुलसी ने दोनों दृष्टियों की अपनी परिभाषाएँ तो दे दी हैं लेकिन यह स्पष्ट नहीं किया कि ये दोनों दृष्टियाँ परस्पर सापेक्ष हैं या नहीं ? इस प्रश्न को उन्होंने केवल शाब्दिक उलझन में डाल दिया है।

"लोकदृष्टि गत अहिंसात्मक कार्य जब अध्यात्म दृष्टि में गिन लिये जाते हैं तब दोनों दृष्टियाँ एक दूसरे से पृथक् कही जाती हैं" आचार्य तुलसी के इस कथन का अर्थ यह मालूम होता है कि मरते हुए जीव को दया लाकर बचाना, दुःखियों को दुःख से मुक्त करना दीन-हीन व्यक्तियों को दया लाकर सहायता पहुँचाना आदि लोकदृष्टि गत अहिंसात्मक कार्य हैं, इन्हें जब आध्यात्मिक दृष्टि में गिन लेते हैं तब वे कहते हैं कि नहीं भाई लोकदृष्टि और चीज है और आध्यात्मिक दृष्टि और चीज है ? इसका मतलब यही हुआ कि आचार्य तुलसी की दृष्टि में लोकदृष्टि और आध्यात्म दृष्टि में पूर्व पश्चिम की तरह परस्पर विरोध है। इन दोनों में परस्पर कोई संगति या अपेक्षा नहीं हो सकती। उनकी दृष्टि में लोकदृष्टि पाप का कारण है और आध्यात्म दृष्टि पुण्य का कारण है। इसीलिए वे जीव रक्षा करने में, दुःखियों को दुःख-मुक्त करने में, दीन-हीन को दया लाकर सहायता पहुँचाने में पाप की प्ररूपणा करते हैं। वे कहते हैं कि ये लोकदृष्टि के कार्य हैं। उनके मत के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि के कार्य तो पुण्य के कार्य हैं और लोक दृष्टि के कार्य पाप के कार्य हैं। अर्थ यह हुआ कि आध्यात्मिक दृष्टि और लोकदृष्टि में वही अन्तर है जो विष और अमृत में है। इन्होंने लोकदृष्टि का अर्थ ही यह किया कि संसार की व्यवस्था चलाने के लिए जो प्रवृत्ति होती है तद्विषयक दृष्टि लोकदृष्टि है। संसार की व्यवस्था चलाना उनके मत के अनुसार पाप का कारण है। संसार की व्यवस्था चलाना आध्यात्मिक कार्य नहीं

है और जो आध्यात्मिक कार्य नहीं है उससे पुण्य नहीं हो सकता, ऐसी उनकी मान्यता है। तात्पर्य यह हुआ कि उनके मत से लोक दृष्टि पाप है और आत्मा के लिए विष रूप है। वे स्वयं कहते हैं कि लौकिक पुण्य में और धार्मिक पुण्य में इतना भेद है जितना आकदूध और गाय दूध मे है। खैर।

आचार्य तुलसी जिन अनुकम्पा रूप दया-दान को लोक दृष्टि गत अहिंसात्मक कार्य कहते है वस्तुतः वे केवल लोकदृष्टि गत ही नहीं है बल्कि आध्यात्मिक भी है। जैन सिद्धान्त का यह आदर्श सूत्र है।

मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ

(मेरी सब जीवों के साथ मैत्री है किसी के साथ द्वेष नहीं है)

सब जीवों के साथ मैत्री भाव रखने के लिए जैन धर्म का स्पष्ट संदेश है। क्या कोई सच्चा मित्र अपने दूसरे मित्र को दुःखी देख कर चुपचाप रह सकता है? यदि वह सामर्थ्य होते हुए चुप-चाप उसके दुःख को देखता रहता है तो क्या वह उसका सच्चा मित्र है? कदापि नहीं! अतः मरते हुए जीव को बचाना, दूसरों के दुःखों को दूर करने के लिए प्रयत्न करना मैत्री और अनुकम्पा (दया) का सूचक है। मैत्री और अनुकम्पा की भावना आत्मा की विशुद्धि करने वाली है। अतः जीव रक्षा आदि के कार्य आध्यात्मिक भी हैं।

आगे चल कर आचार्य तुलसी कहते हैं कि "किन्तु जब उन कार्यों को लोक दृष्टि में गिनकर कथन किया जाय तब यहाँ-वहाँ दोनों दृष्टियों की संगती भी हो सकती है।" आचार्य तुलसी के इस वाक्य का क्या अर्थ है कुछ स्पष्ट नहीं होता। 'संगति' शब्द का अर्थ होता है साथ रह सकना या साथ चल सकना।

भी हैं। है तो क्या ? आचार्य तुलसी ने दोनों दृष्टियों की अपनी परिभाषाएँ तो दे दी हैं लेकिन यह स्पष्ट नहीं किया कि ये दोनों दृष्टियाँ परस्पर सापेक्ष हैं या नहीं ? इस प्रश्न को उन्होंने केवल शाब्दिक उलझन में डाल दिया है।

"लोकदृष्टि गत अहिंसात्मक कार्य जब अध्यात्म दृष्टि में गिन लिये जाते हैं तब दोनों दृष्टियाँ एक दूसरे से पृथक् कही जाती हैं" आचार्य तुलसी के इस कथन का अर्थ यह मालूम होता है कि मरते हुए जीव को दया लाकर बचाना, दुःखियों को दुःख से मुक्त करना दीन-हीन व्यक्तियों को दया लाकर सहायता पहुँचाना आदि लोकदृष्टि गत अहिंसात्मक कार्य हैं इन्हें जब आध्यात्मिक दृष्टि में गिन लेते हैं तब ये कहते हैं कि नहीं भाई लोकदृष्टि और चीज है और आध्यात्मिक दृष्टि और चीज है ? इसका मतलब यही हुआ कि आचार्य तुलसी की दृष्टि में लोकदृष्टि और आध्यात्म दृष्टि में पूर्व पश्चिम की तरह परस्पर विरोध है। इन दोनों में परस्पर कोई संगति या अपेक्षा नहीं हो सकती। उनकी दृष्टि में लोकदृष्टि पाप का कारण है और आध्यात्म दृष्टि पुण्य का कारण है। इसीलिए वे जीव रक्षा करने में, दुःखियों को दुःख-मुक्त करने में, दीन-हीन को दया लाकर सहायता पहुँचाने में पाप की प्ररूपणा करते हैं। वे कहते हैं कि ये लोकदृष्टि के कार्य हैं। उनके मत के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टि के कार्य ही पुण्य के कार्य हैं और लोक दृष्टि के कार्य पाप के कार्य हैं। अर्थ यह हुआ कि आध्यात्मिक दृष्टि और लोकदृष्टि में वही अन्तर है जो विष और अमृत में है। इन्होंने लोकदृष्टि का अर्थ ही यह किया कि संसार की व्यवस्था चलाने के लिए जो प्रवृत्ति होती है तद्विषयक दृष्टि लोकदृष्टि है। संसार की व्यवस्था चलाना उनके मत के अनुसार पाप का कारण है। संसार की व्यवस्था चलाना आध्यात्मिक कार्य नहीं

है और जो आध्यात्मिक कार्य नहीं है उससे पुण्य नहीं हो सकता, ऐसी उनकी मान्यता है। तात्पर्य यह हुआ कि उनके मत से लोक दृष्टि पाप है और आत्मा के लिए विष रूप है। वे स्वयं कहते हैं कि लौकिक पुण्य में और धार्मिक पुण्य में इतना भेद है जितना आकदूध और गाय दूध में है। खैर।

आचार्य तुलसी जिन अनुकम्पा रूप दया-दान को लोक दृष्टि गत अहिंसात्मक कार्य कहते हैं वस्तुतः वे केवल लोकदृष्टि गत ही नहीं हैं बल्कि आध्यात्मिक भी हैं। जैन सिद्धान्त का यह आदर्श सूत्र है।

मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ

(मेरी सब जीवों के साथ मैत्री है किसी के साथ द्वेष नहीं है)

सब जीवों के साथ मैत्री भाव रखने के लिए जैन धर्म का स्पष्ट संदेश है। क्या कोई सच्चा मित्र अपने दूसरे मित्र को दुःखी देख कर चुपचाप रह सकता है ? यदि वह सामर्थ्य होते हुए चुप-चाप उसके दुःख को देखता रहता है तो क्या वह उसका सच्चा मित्र है ? कदापि नहीं ! अत मरते हुए जीव को बचाना, दूसरों के दुःखों को दूर करने के लिए प्रयत्न करना मैत्री और अनुकम्पा (दया) का सूचक है। मैत्री और अनुकम्पा की भावना आत्मा की विशुद्धि करने वाली है। अत जीव रक्षा आदि के कार्य आध्यात्मिक भी हैं।

आगे चल कर आचार्य तुलसी कहते हैं कि "किन्तु जब उन कार्यों को लोक दृष्टि में गिनकर कथन किया जाय तब वहां-वहां दोनों दृष्टियों की संगति भी हो सकती है।" आचार्य तुलसी के इस वाक्य का क्या अर्थ है कुछ स्पष्ट नहीं होता। 'संगति' शब्द का अर्थ होता है साथ में रह सकना या साथ में चल सकना।

करने वाले तथा अन्न दान का त्याग कराने वाले जीवों की वृत्ति का छेद नहीं करते हैं ? भगवान् महावीर के जन-कल्याण के महान् आदर्श का अपलाप नहीं करते हैं ?

'जे य दाणं पसंसन्ति वहमिच्छन्ति पाणिणो' का भावार्थ दान से होने वाले जनहित के सम्बन्ध में मौन होना नहीं है अपितु उस से पूर्व दानशाला आदि बनाने में होने वाली आरम्भिक क्रिया के सम्बन्ध में मौन रखने की ओर संकेत है।

यदि साधु से इतर को दान देने का निषेध करते समय आरम्भ को ही मुख्य रक्खा जाता है एवं जनहित के मार्ग में बाधाओं का पहाड़ खड़ा किया जाता है तो प्रश्न है कि कोई भी महाव्रती साधु मुनि दर्शन के लिये न उपदेश दे सकता है और न समर्थन कर सकता है। और न हर वर्ष दर्शन कराने का नियम ही दिला सकता है। क्योंकि मुनि दर्शन के लिये उड़कर तो नहीं आया जा सकता ? रेल, मोटर, बैलगाड़ी आदि किसी साधन का उपयोग करना पड़ता है और उसमें आरम्भ होना प्रत्यक्ष सिद्ध है। क्या इस दशा में मुनि दर्शन की प्रेरणा देने वाले को गमनागमनादि क्रियाओं में होने वाले पाप का भागी होना पड़ता है ? क्या इस प्रकार के आरम्भ की भूमिका को लक्ष्य में लेकर मुनि दर्शन की प्रेरणा से निवृत्त होने का कोई शास्त्रीय आधार उपस्थित है ? प्रस्तुत प्रसंग पर से उत्तर मिलता है कि मुनि दर्शन की क्रिया अलग है और रेल-मोटर से आने जाने वाली क्रिया अलग। साधु की अनुमोदना मुनि दर्शन में है किन्तु उसके लिये होने वाले आरम्भ में नहीं है। इसी प्रकार दानशालादि बनवाने में होने वाले आरम्भ के लिये मुनि की अनुमोदना नहीं है। उसकी अनुमोदना केवल दानादि द्वारा होने वाले प्राणीहित में है।

मुनि दर्शन और अनुकम्पा दान में पुण्य पाप की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। यदि साधु मुनि दर्शन की बात कह सकता है तो अनुकंपा दान की बात भी कह सकता है। शास्त्र में आग लगाने वाले को महारंभी और बुझाने वाले को अल्पारंभी कहा गया है। तथा महारंभ और अल्पारंभ के कार्यों का वर्णन है। श्रावक महारंभी कार्यों का त्यागी होता है और अल्पारंभ के कार्य करता है। उपदेष्टा या शास्त्र अल्पारंभी कार्यों के पाप के भागी नहीं हो सकते इनका काम विवेक कराना है। जो जितना आचरण कर सके उतना अच्छा। अनासक्त वक्ता द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्व में आसक्त श्रोता फंस भी सकता है और निवृत्त भी हो सकता है। इस में वक्ता का क्या दोष है वह तो वस्तु स्वरूप का वर्णन मात्र करता है।

हां, यदि वर्णन करते समय वह स्वयं उस में फंस जाय तब तो वह सच्चा उपदेष्टा नहीं रह जायगा। भले बुरे का, अल्पारंभ के कामों का और महारंभ के कामों का तथा पुण्य और पाप का विवेक कराना साधु का कर्तव्य है। यदि साधु या शास्त्र यह कार्य न करेंगे तो कौन करेंगे। एतावता विवेक कराने मात्र से तज्जनित क्रिया में होने वाले सूक्ष्म पाप के भागी वे नहीं बन जाते। दार्शनिक दृष्टि से विचार किया जाय तो भारतीय परम्परा में दोनों प्रकार की दृष्टियां मिलती हैं। मीमांसक वेद वाक्य को क्रिया परक मानते हैं और वेदान्ती वस्तु स्वरूप परक। जैन दृष्टि वेदान्त से मिलती-जुलती है।

आचार्य श्री तुलसीराम जी म०

१—उपदेश का तात्पर्य स्वरूप-प्रतिपादन से भी होता है और प्रेरणात्मक योगदान से भी।

स्वरूप-प्रतिपादन करने से तो वह उस सम्बन्ध की क्रिया से अलिप्त रहता है किन्तु उपदेश से यदि क्रिया की प्रेरणा दी जाती हो तो प्रेरक अलिप्त नहीं रह सकता।

तीर्थंकरों के उपदेश में स्वरूप-प्रतिपादन तो प्रत्येक वस्तु का हो सकता है किन्तु असत् क्रिया की प्रेरणा नहीं होती अतः समन्वय कैसे हो, यह प्रश्न ही नहीं उठता।

समीक्षा

समिति ने यह प्रश्न इस अनुसन्धान में पूछा है कि तेरापन्थी आचार्य तुलसी ने श्वेताम्बर तेरापन्थ जैन समाज दिल्ली की ओर से प्रेषित प्रश्न नं० ३ का उत्तर देते हुए यह कहा है कि "उक्त प्रवृत्तियाँ (धर्मशाला, औषधालय, अनाथालय आदि) हिंसा और परिग्रह के बिना साध्य नहीं है और साधु के लिए हिंसा और परिग्रह कृत-कारित-अनुमति से त्याज्य हैं इसलिए वे इस विषय का उपदेश नहीं कर सकते।"

तेरापन्थी आचार्य का अभिप्राय यह है कि इस विषयक उपदेश देने से साधु को हिंसा और परिग्रह का अनुमोदन लगता है। इस का अर्थ यह हुआ कि वे उपदेष्टा को उपदेश विषयक क्रिया-विक्रिया आदि से अलिप्त नहीं मानते। ऐसा मानने से तो जैसा कि समिति ने प्रश्न किया है—तीर्थंकर और शास्त्रकारों को अनुमोदन का पाप लगना चाहिए क्योंकि इनके उपदेशों में सभी प्रकार की चर्चाएँ पायी जाती हैं। तब तो वे कह देते हैं कि तीर्थंकरों के उपदेश में स्वरूप प्रतिपादन होता है अतः उन्हें अनुमोदन नहीं लगती है। इसी तरह साधु भी यदि केवल स्वरूप प्रतिपादन करता है तो उसे तज्जन्य क्रिया-विक्रिया का अनुमोदन कैसे लग सकता है?

आः श्री तुलसी भी यह मान रहे हैं कि उपदेश का तात्पर्य स्वरूप प्रति-पादन से भी होता है और प्रेरणात्मक योग दान से भी। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि साधु अनाथालय, औषधालय, धर्मशाला आदि में रहे हुए प्राणिहित के स्वरूप का प्रतिपादन करता है तो वह ऐसा करता हुआ—ऐसा उपदेश देता हुआ तज्जन्य क्रिया-विक्रया से लिप्त नहीं होता अर्थात् उसे अनुमोदना का पाप नहीं लगता। हाँ, यदि साधु स्वयं उसमें आसक्त हो जाय तो वह सच्चा उपदेष्टा ही नहीं रहता।

साधु के उपदेश का तात्पर्य प्रेरणात्मक योग दान से नहीं होता। जैसे किसी साधु ने किन्हीं अव्रती गृहस्थों को अणुव्रतों का उपदेश दिया इसका अर्थ यह नहीं होता कि उस साधु को अणु व्रतों में खुले रहे हुए सावद्य कर्मों का अनुमोदन भी लगा। यदि साधु के उपदेश का अर्थ प्रेरणात्मक योग दान लिया जाय तब तो गृहस्थ को अणुव्रत और दूसरे व्रत प्रत्याख्यान कराने पर साधु को उसके खुले रहे हुए सावद्यकर्मों का अनुमोदन भी लगेगा ही। इसलिए साधु के उपदेश का तात्पर्य केवल स्वरूप प्रतिपादन होता है। अतः वे अल्पारम्भ महारम्भ, पुण्य-पाप के कार्यों का प्रतिपादन कर सकते हैं। साधु रोगी की सेवा करने का, दुःखियों को दुःख से मुक्त करने का, अनाथों की रक्षा करने का, इधर-उधर भटकते हुए को शांति देने का उपदेश दे सकता है। साधु को इन कार्यों के साधनों से प्रयोजन नहीं होता। वह तो प्राणिहित का समुच्चय रूप से उपदेश दे सकता है। जिस प्रकार साधु मुनिदर्शन का उपदेश दे सकता है उसी तरह प्राणिहित के लिए भी उपदेश दे सकते हैं। मुनि दर्शन के लिए भी रेल, मोटर आदि साधन का उपयोग करना पड़ता है और इसमें आरम्भ होना प्रत्यक्ष सिद्ध है। ऐसा होते हुए भी मुनि जैसे मुनि दर्शन का उपदेश

दे सकता है वैसे ही प्राणिहित के लिए भी उपदेश दिया जा सकता है। जैसे मुनि दर्शन की क्रिया अलग है और यातायात में होने वाला आरम्भ अलग है। इसी तरह औषधालय, धर्मशाला, अनाथालय आदि में रहा हुआ प्राणिहित अलग है और उनमें होने वाला आरम्भ अलग है। मुनि दर्शन के उपदेश देने वाले को जैसे यातायात के आरम्भ का अनुमोदन नहीं लगता वैसे ही औषधालय आदि में रहे हुए प्राणिहित के लिए उपदेश देने से तज्जन्य आरम्भ का अनुमोदन नहीं लगता है।

अतः यह मानना चाहिए कि मुनि इन कार्यों में रहे हुए प्राणिहित का अनासक्त भाव से उपदेश दे सकता है।

: ६ :

धार्मिक पुण्य एवं लौकिक पुण्य में क्या परस्पर विमुखता है ? यदि उनकी भूमिका में कुछ समानता है तो वह क्या ?

आ० श्री गणेशीलाल जी महाराज

(६) जैन शास्त्रों में धार्मिक पुण्य और लौकिक पुण्य नामक दो पुण्य हैं ही नहीं। कर्त्ता कोई भी क्रिया करता है चाहे वह धार्मिक हो चाहे लौकिक, यदि उसका फल पुण्य होगा तो आत्मा के साथ पुण्य रूप कर्म वर्गणा का बंध होगा। लौकिक पुण्य की कर्म वर्गणा अलग है और धार्मिक पुण्य की अलग, ऐसा विभाजन जैन-शास्त्रों में है ही नहीं। पुण्य एक ही प्रकार का होता है। शास्त्र प्रसिद्ध ४२ पुण्य प्रकृतियाँ धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के मनुष्यों को बंधती हैं। यह नहीं कि साधु को एक प्रकार का पुण्य लगता है और श्रावक आदि को दूसरे प्रकार का। अतः पुण्य का यह विभाजन केवल भ्रम में डालने के लिये किया जाता है।

नुसार इस प्रकार के रक्षा रूप सेवा-कार्य का अर्थ केवल शरीर-पोषण नहीं अपितु शारीरिक दुःख मिटाने के साथ उस पीड़ित आत्मा के आर्त्त रौद्रध्यान को हटाकर उसकी आध्यात्मिक सेवा करना भी है।

आ० श्री तुलसीराम जी महाराज

६—पुण्य पौद्गलिक बन्धन है, वह न तो धार्मिक होता है न लौकिक। धार्मिक या लौकिक क्रिया होती है। लौकिक पुण्य-कार्य और धार्मिक कार्य में परस्पर विमुखता होती है और कहीं नहीं भी। अहिंसात्मकता ही दोनों की समानता का कारण है।

समीक्षा

"लौकिक पुण्य कार्य और धार्मिक कार्य में परस्पर विमुखता होती है और कहीं नहीं भी" यह भी आचार्य तुलसी का अस्पष्ट उत्तर है। उन्हें यह बताना चाहिये था कि अमुक-अमुक रूप में तो इन दोनों में विमुखता होती है और अमुक अवस्था में विमुखता नहीं भी होती है।

प्रश्न का उत्तर इस ढंग से देना चाहिये ताकि उसका साफ २ स्पष्टीकरण हो जाय। लेकिन स्पष्ट उत्तर न देना ही शायद आचार्य तुलसी की लाक्षणिक विशेषता प्रतीत होती है, इसलिये उन्होंने किसी भी प्रश्न का उत्तर साफ २ शब्दों में नहीं दिया।

आचार्य तुलसी के सम्प्रदाय की यह मान्यता है पुण्य धार्मिक कार्यों से ही होता है, लौकिक कार्यों से तो पाप ही होता है। फिर भी आचार्य तुलसी ने औषधालय, विद्यालय, अनाथालय आदि को लौकिक पुण्य-कार्य कहा है। उन्होंने स्थानकवासी संघ के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि प्राणी को बचाने के लिए जो कुछ किया जाता है वह लोक धर्म है अतः यह

आध्यात्मिक धर्म के साथ होने वाले पुण्य का कारण नहीं, लौकिक पुण्य कार्य है।"

आचार्य तुलसी से यह पूछना है कि उन्होंने प्राणी की रक्षा को लौकिक पुण्य-कार्य कैसे माना है? जबकि उनकी मान्यतानुसार प्राण रक्षा में पुण्य नहीं होता तब वे उसे लौकिक पुण्य कार्य भी कैसे कह सकते हैं? लोक तो इन क्रियाओं में पुण्य बन्ध होना मानता है इसलिए वह इन्हें पुण्य कार्य कह सकता है। परन्तु वे तो इस में पाप मानते हैं तो वे लौकिक पुण्य कार्य क्यों कर कह सकते है? उनकी मान्यता के अनुसार लौकिक पुण्य-कार्य पाप के कारण हैं।

एक व्यक्ति प्राणी का घात करता है वह भी पाप करता है और एक व्यक्ति प्राणी को बचाता है वह भी लौकिक कार्य करता है अर्थात् वह पाप का कार्य करता है।

एक व्यक्ति गरीबों का शोषण करता है वह भी पाप करता है और एक व्यक्ति गरीबों का पोषण करता है वह भी पाप करता है। एक व्यक्ति दुःखी जीवों को दुःख देता है वह भी पाप करता है और एक व्यक्ति दुःखी जीवों को दुःख से छुड़ाता है वह पाप भी करता है यह है आचार्य तुलसी की विचित्र पाप व्यवस्था।

: ७ :

धर्म क्या स्थितिबद्ध है? फिर गति या विकास से उसका क्या सम्बन्ध है?

आ० श्री गणेशीलाल जी म०

(७) सातवाँ प्रश्न स्पष्ट है। यदि स्थिति शब्द से अस्तित्व लिया जाता है तो उसका परिवर्तन के साथ कोई विरोध नहीं है। जैन दृष्टि के अनुसार उसी को सत् माना जाता है जिस में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों तत्त्व विद्यमान हैं।

नुसार इस प्रकार के रक्षा रूप सेवा-कार्य का अर्थ केवल शरीर-पोषण नहीं अपितु शारीरिक दुःख मिटाने के साथ उस पीड़ित आत्मा के आर्त्त रौद्रध्यान को हटाकर उसकी आध्यात्मिक सेवा करना भी है।

आ० श्री तुलसीराम जी महाराज

६—पुण्य पौद्गलिक बन्धन है, यह न तो धार्मिक होता है न लौकिक। धार्मिक या लौकिक क्रिया होती है। लौकिक पुण्य-कार्य और धार्मिक कार्य में परस्पर विमुखता होती है और कहीं नहीं भी। अहिंसात्मकता ही दोनों की समानता का कारण है।

समीक्षा

'लौकिक पुण्य कार्य और धार्मिक कार्य में परस्पर विमुखता होती है और कहीं नहीं भी" यह भी आचार्य तुलसी का अस्पष्ट उत्तर है। उन्हें यह बताना चाहिये था कि अमुक-अमुक रूप में तो इन दोनों में विमुखता होती है और अमुक अवस्था में विमुखता नहीं भी होती है।

प्रश्न का उत्तर इस ढंग से देना चाहिये ताकि उसका साफ २ स्पष्टीकरण हो जाय। लेकिन स्पष्ट उत्तर न देना ही शायद आचार्य तुलसी की लाक्षणिक विशेषता प्रतीत होती है, इसलिये उन्होंने किसी भी प्रश्न का उत्तर साफ २ शब्दों में नहीं दिया।

आचार्य तुलसी के सम्प्रदाय की यह मान्यता है पुण्य धार्मिक कार्यों से ही होता है, लौकिक कार्यों से तो पाप ही होता है। फिर भी आचार्य तुलसी ने औषधालय, विद्यालय, अनाथालय आदि को लौकिक पुण्य-कार्य कहा है। उन्होंने स्थानकवासी संघ के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि प्राणी को बचाने के लिए जो कुछ किया जाता है वह लोक धर्म है अतः यह

आध्यात्मिक धर्म के साथ होने वाले पुण्य का कारण नहीं, लौकिक पुण्य कार्य है।"

आचार्य तुलसी से यह पूछना है कि उन्होंने प्राणी की रक्षा को लौकिक पुण्य-कार्य कैसे माना है ? जबकि उनकी मान्यता अनुसार प्राण रक्षा में पुण्य नहीं होता तब वे उसे लौकिक पुण्य कार्य भी कैसे कह सकते हैं ? लोक तो इन क्रियाओं में पुण्य बन्ध होना मानता है इसलिए वह इन्हें पुण्य कार्य कह सकता है। परन्तु वे तो इस में पाप मानते हैं तो वे लौकिक पुण्य कार्य क्यों कर कह सकते है ? उनकी मान्यता के अनुसार लौकिक पुण्य-कार्य पाप के कारण हैं।

एक व्यक्ति प्राणी का घात करता है वह भी पाप करता है और एक व्यक्ति प्राणी को बचाता है वह भी लौकिक कार्य करता है अर्थात् वह पाप का कार्य करता है।

एक व्यक्ति गरीबों का शोषण करता है वह भी पाप करता है और एक व्यक्ति गरीबों का पोषण करता है वह भी पाप करता है। एक व्यक्ति दुःखी जीवों को दुःख देता है वह भी पाप करता है और एक व्यक्ति दुःखी जीवों को दुःख से छुड़ाता है वह पाप भी करता है यह है आचार्य तुलसी की विचित्र पाप व्यवस्था।

: ७ :

धर्म क्या स्थितिबद्ध है ? फिर गति या विकास से उसका क्या सम्बन्ध है ?

आ० श्री गणेशीलाल जी म०

(७) सातवां प्रश्न स्पष्ट है। यदि स्थिति शब्द से अभिन्न लिया जाता है तो उसका परिवर्तन के साथ कोई विरोध नहीं है। जैन दृष्टि के अनुसार उसी को सत् माना जाता है जिस में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों तत्त्व विद्यमान हैं।

यदि स्थिति का अर्थ मर्यादा है तो धर्म की कुछ मर्यादायें त्रैकालिक और शाश्वत हैं और कुछ देश-कालादि की दृष्टि से परिवर्तनशील हैं।

आचार्य श्री तुलसीराम जी म०

७—धर्म अपने आप में पूर्ण है, गति और विकास अपूर्ण-सापेक्ष हैं। धर्म में गति या विकास कहा जाता है, वह धार्मिकों की अपेक्षा से अथवा यों भी कहा जा सकता है कि धर्म के मौलिक नियम स्थितिबद्ध हैं और औपचारिक नियमों में गति और विकास भी।

: ८ :

धर्म और कर्म को क्या परस्पर की अपेक्षा है? है तो किस रूप में।

आ० श्री गणेशीलाल जी म०

(८) धर्म का अर्थ है मोक्ष मार्ग। उसकी पूर्णता चौदहवें गुण स्थान में होती है। किन्तु इस स्तर तक पहुँचने के लिये सत्कर्म (शुभ क्रियाएं) भी उपयोगी हैं इसलिये उपादेय भी हैं जब तक कि अन्तिम ध्येय तक न पहुँचा जाय।

इस विषय में साधु और श्रावक का भेद नहीं है। जिस प्रकार साधु की शुभ क्रियाएं मोक्ष के लिये उपकारक हैं उसी प्रकार गृहस्थ की शुभ क्रियाएं भी। अतएव शुभ भावना से की जाने वाली—अनुकंपा दान, माता-पिता की सेवा, रोगी की परिचर्या, भूखे को भोजन व्रत पालन आदि श्रावक की-शुभ क्रियाएं भी धर्म का अंग हैं। इस प्रकार जैनदर्शन धर्म और सत्कर्म में किसी प्रकार का विरोध एवं असगति नहीं मानता, अपितु जीवन यात्रा में एक दूसरे को परस्पर पूरक एवं पोषक मानता है।

समिति की ओर से अन्तिम पूरक प्रश्न

१. औषधालय, विद्यालय और अनाथालय खोलना या संचालन करना तथा आग लगे मकान या बाड़े के द्वार खोलकर अनुकम्पा बुद्धि से मनुष्य, गाय आदि प्राणियों की रक्षा करना आदि कार्यों के द्वारा होने वाला लौकिक धर्म शुभयोग है या अशुभ योग ?

जैनाचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज का पूरक प्रश्न का उत्तर

आपके प्रश्न में प्रयुक्त किया गया "लौकिक धर्म" शब्द कुछ भ्रामक-सा है। यदि इसका अर्थ वही है जिसे तेरापंथ मानता है तो हम इन क्रियाओं के लिये इस शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहते। तेरापंथ के अनुसार लौकिक धर्म एकान्त पाप का कारण है। यदि उस शब्द को अलग रख कर पूछा जाता है तो हमारा उत्तर है कि अनुकम्पा भाव से किये गये उपरोक्त कार्य शुभयोग हैं। हम यह पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि पुण्य और पाप प्रकृतियों का एकान्त बंध नहीं होता (देखिये हमारे उत्तर नं० २-३)। शुभ और अशुभ का व्यवहार पुण्य और पाप की अधिकता के कारण समझना चाहिए। इति।

जैनाचार्य श्री तुलसीराम जी महाराज का पूरक प्रश्न का उत्तर

आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार माना जाता है कि जहाँ-कहीं भी आरम्भ, हिंसा आदि प्रवृत्तियाँ हैं वे शुभ योग नहीं होतीं, किंतु हाँ, प्रत्येक अशुभ योग की प्रवृत्ति में भी प्रसंगोपात्त शुभ-योग हो सकता है। किसी भी प्रवृत्ति में अशुभ योग माना

प्रवृत्ति को शुभयोग स्वीकार कर लिया है। शुभयोग का अर्थ है पुण्य का कारण। अतः आचार्य तुलसी के वचनों से ही यह सिद्ध हो जाता है कि अनाथालय, विद्यालय, औषधालय, प्राण रक्षा आदि कार्य पुण्य बन्ध के कारण हैं।

जिस प्रकार मुनिदर्शन शुभयोग है और उसमें होने वाला यातायात का आरम्भ अशुभयोग है इसी तरह अनाथालय विद्यालय प्राणि रक्षा आदि काय में होनेवाला आरम्भ अशुभयोग है और आरम्भातिरिक्त हित प्रवृत्ति शुभयोग है। यह पुण्य का कारण है।

आचाय तुलसी कहते हैं कि "जहाँ व्यवहार का प्रश्न है वहाँ मानदण्ड होता है सामाजिक दृष्टिकोण उसमें शुभयोग अशुभयोग जैसी व्यवस्था नहीं है।" आचार्य तुलसी का यह कथन जैन शास्त्रों से सर्वथा प्रतिकूल है क्योंकि जैन सिद्धान्त यह मानता है कि जब तक अयोगी अवस्था प्राप्त नहीं होती तब तक चाहे व्यवहार की क्रिया हो—चाहे धार्मिक किया हो वह या तो शुभयोग से होती है या अशुभयोग से होती है। इसके अतिरिक्त तीसरा विकल्प हो नहीं सकता। अतः "शुभयोग अशुभयोग जैसी कोई व्यवस्था नहीं है" यह कहना जैन सिद्धान्त से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

आगे चल कर वे कहते हैं—"यदि शाब्दिक अर्थ लें जैसे शुभयोग यानी अच्छी प्रवृत्ति तो व्यवहार की भूमिका में ये सब शुभयोग माने जा सकते हैं।" इस कथन में आचार्य तुलसी ने औषधालय, विद्यालय प्राण रक्षा आदि को अच्छी प्रवृत्ति—सत्प्रवृत्ति मान ली है। और समिति के प्रतिप्रश्न नं० १ का उत्तर देते हुए उन्होंने "सत्प्रवृत्ति से आकृष्ट कर्मपुद्गलों को पुण्य कहते हैं" यह पुण्य की व्याख्या की है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि विद्यालय, औषधालय प्राण रक्षा आदि

पूरक प्रश्न की समीक्षा

(समीक्षक—पं० पूर्णचन्द्र दक)

पूरक प्रश्न के उत्तर पर थोड़ा और विचार किया जाता है। जैन संयोजना समिति के विद्वान् और विचारक सदस्य पं० श्री राजेन्द्रकुमार जी ने पूर्ण स्पष्टीकरण के अभिप्राय से अन्तिम पूरक प्रश्न पूछा है। समिति के कार्यमन्त्री श्री अक्षयकुमार ने भूमिका में इस बात का जिक्र किया है। पं० राजेन्द्रकुमारजी जैनधर्म के मर्मज्ञ तथा शास्त्रार्थ या चर्चा करने में बड़े कुशल हैं। पं० जी ने आर्यसमाजियों के साथ शास्त्रार्थ करके उनको परास्त किया है। पण्डित जी इस बात का अन्तिम और स्पष्ट उत्तर प्राप्त करना चाहते थे कि लौकिक कार्यों का फल पुण्य रूप होता है या पाप रूप। इसी आशय से बड़ी बुद्धिमानी पूर्वक इस प्रश्न की रचना की गई थी। यह प्रश्न और इसका उत्तर खास महत्त्व रखते हैं। किसी भी चर्चा में अन्तिम प्रश्न का बड़ा महत्त्व होता है। और उससे भी अधिक उसके उत्तर का। यदि आचार्य श्री गणेशीलाल जी म० तथा आचार्य श्री तुलसी के बीच दयादान को लेकर शास्त्रार्थ होता और उसमें जयपराजय का निर्णय देने का प्रसंग उपस्थित होता तो अन्तिम उत्तर का कितना महत्त्व होता।

जय-पराजय की भावना को मन में स्थान न देकर केवल सत्य-असत्य का निर्णय करने की भावना से भी अन्तिम पूरक प्रश्न के उत्तर का बड़ा महत्त्व है। प्रश्नोत्तर का सिलसिला इस लिए प्रारम्भ किया गया था कि जनता इस बात का निर्णय कर सके कि दया और दान के सम्बन्ध में आचार्य श्री गणेशीलाल जी म० तथा आचार्य श्री तुलसी के क्या विचार हैं।

समिति के मान्य सदस्यों ने भी इस बात का प्राक्कथन में इस प्रकार जिक्र किया है :—

'जैन सिद्धान्त के प्रतिपादन में, विशेषकर दया दान सम्बन्धी मान्यता पर बीच में (दोनों आचार्यों के बीच) कुछ उलझन और असन्तोष भी है। वह पत्रों और पर्चों में भी सामने आया और किंचित क्षोभ का भी कारण बना। फलतः समिति का निर्माण हुआ जो एक दूसरे की, शंकाओं को लेकर उभयपक्षों (उभयपक्ष के आचार्यों से उत्तर प्राप्त कर) से उनके मन्तव्य प्राप्त करे और यदि आवश्यक हो तो अपनी ओर से प्रतिप्रश्नों का निर्माण करके विवादस्थ विषय को और भी स्पष्ट करले।'

आठ प्रति प्रश्नों के पश्चात् पूरक प्रश्न इस लिए आवश्यक हो गया कि दया-दान के सम्बन्ध में पुण्य-पाप फल की मान्यता आचार्य श्री तुलसी के उत्तरों में स्पष्ट नहीं हुई। इस अन्तिम प्रश्न की रचना ही यह बताती है कि वह आचार्य श्री तुलसी से सम्बन्ध रखता है। किन्तु इसका भी उत्तर आचार्य श्री तुलसी ने कितने छल से दिया है यह स्पष्ट है। इस उत्तर को श्री जैनेन्द्र कुमार जी तक न समझ पाये और उन्होंने यह मान लिया कि आचार्य श्री तुलसी विचार प्रस्त कार्यों का फल एकान्त पाप रूप नहीं मानते। उनमें कुछ पुण्य मानते हैं। किन्तु हमारी श्री जैनेन्द्र कुमार जी से सविनय प्रार्थना है कि वे बारीकी से तेरापंथ की मान्यता का अध्ययन करेंगे तो उन्हें असलियत का पता लग जायगा। रक्षा और सहायता के कामों में तेरापंथी न तो शुभ योग मानते हैं और न पुण्य।

इस प्रश्न का सीधा उत्तर 'शुभयोग है' अथवा 'अशुभ योग है' इन दोनों में से किसी एक विकल्प में देना चाहिये था जैसा

कि आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज ने 'हमारा उत्तर है कि अनुकंपा भाव से किये गये उपरोक्त कार्य शुभ योग हैं' दिया है।

आचार्य श्री तुलसी ने इन शब्दों में उत्तर दिया है 'आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार माना जाता है कि जहाँ कहीं भी आरंभ हिंसा आदि प्रवृत्तियाँ हैं वे शुभ योग नहीं होतीं' तथा 'किसी भी प्रवृत्ति में अशुभ योग माना जाता है, वह हिंसा आदि की अपेक्षा में ही माना जाता है। उसमें हिंसा बचाव आदि की जितनी भी भावना या प्रवृत्ति रहती है वह शुभ योग ही है।' इस शब्द रचना में जो भावार्थ निकल सकता है उसके अनुसार तो ऊपर समीक्षा की जा चुकी है।

किन्तु इस शब्द रचना के अन्तर में अनन्त आवरणों के भीतर जो बात छिपी हुई है वह प्रकट की जाती है।

तेरापंथ की अहिंसा का अर्थ है 'अपने आपको पाप से बचाना।' तेरापंथी किसी जीव को अपनी ओर से नहीं मारता है सो अपना पाप टालने के लिए, न कि सामने वाले जीव की रक्षा के लिए। सामने वाले जीव की रक्षा करना अहिंसा नहीं किन्तु इनके मत से हिंसा है। सामने वाला जीव असंयती है। असंयती की रक्षा से असंयम का पोषण होता है। असंयम हिंसा ही है। रक्षा का अर्थ अपनी ओर से किसी जीव को न मारना है। किसी मरते जीव को बचाना रक्षा नहीं, हिंसा है। किसी जीव को बचाने की भावना करने में भी तीसरे करण (अनुमोदन) से हिंसा लगती है। जीव बचाने की चेष्टा में तो प्रत्यक्ष हिंसा [illegible] मानते हैं। इनकी मान्यता का सारांश यह है कि निज से किसी को न मारना अहिंसा है। न मारने से मरते हुए जीव बच जाते हैं। बचाने की भावना से जीव-

गा करने पर असंयम के पोषण में अनुमोदन व योग दान हो जाता है और जिसको दबाया जाता है उनके प्रति राग भाव में आ जाता है। राग भी बंधन है। और इतना चिक्कना बंधन है कि द्वेष से भी अधिक घातक फल देने वाला है।'

इस मूलभूत बात को ध्यान में रख कर अब इन के 'उसमें हिंसा दबाव आदि की जितनी भी भावना या प्रवृत्ति रहती है वह शुभ योग ही है' वाक्य पर मनन कीजिये।

साधारण विचारक यही सोच सकता है कि औषधालय, विद्यालय और अनाथालय खोलना या संचालन करना तथा आग लगे मकान या बाड़े के द्वार खोलकर अनुकंपा बुद्धि से मनुष्य, गाय आदि प्राणियों की रक्षा करना रूप बाद के लिए जो भावना या प्रवृत्ति की जाती है उसी को लक्ष्य करके आचार्य श्री तुलसी ने 'उसमें हिंसा दबाव आदि की जितनी भावना या प्रवृत्ति रहती है वह शुभ योग ही है' वाक्य का प्रयोग किया होगा। किन्तु वस्तुतः यह बात नहीं है। अनुकंपा बुद्धि से मनुष्य गाय आदि प्राणियों की रक्षा करने की भावना या प्रवृत्ति करना तेरापंथ मान्यता के विरुद्ध है। कारण कि मनुष्य और गाय आदि असंयमी हैं।

तब यह प्रश्न उठता है कि आखिर आचार्य श्री तुलसी ने इस वाक्य का प्रयोग किया है उसका कोई हेतु तो होना चाहिये। हिंसा दबाव आदि की बात में शुभ योग बताया है, वह किस दृष्टि से है ?

अपना पाप टालने में हिंसा दबाव की भावना या प्रवृत्ति होती है उसी से इन का प्रयोजन है और इसी वस्तु को लक्ष्य में लेकर यह वाक्य लिखा गया है। किन्तु इस वाक्य को पढ़ कर पाठक भ्रम में पड़ जाते हैं कि आचार्य श्री तुलसी मान ता

रहे हैं कि औषधालय आदि कार्यों में जितना हिंसा बचाव है वह शुभ योग है और जितना आरम्भ है वह अशुभ योग है।

ये काम आज्ञा बाहर हैं। अतः अधर्म कार्य हैं। अधर्म कार्य के करने की भावना या प्रवृत्ति में ये पड़ना ही नहीं चाहते। तब इन कार्यों में हिंसा बचाव आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः पाठक हिंसा बचाव शब्द से यह न मान बैठें कि आचार्य श्री तुलसी उपरोक्त कामों में कुछ पुण्य तो मानते हैं।

श्री जैनेन्द्र कुमार जी इसी बात को न समझ पाये, अतः उनका ख्याल हो गया कि तेरापंथी भी इन कामों में कुछ पुण्य तो मानते हैं। जब कि रक्षा और सहायता के कार्य या भावना में ये किंचित् पुण्य भी नहीं मानते। सर्वथा पाप मानते हैं। अपनी आत्मा के द्वारा किसी जीव को न सताने में धर्म-पुण्य मानते हैं। सताये जाते हुए की रक्षा या सहायता करने में सौ परसंट पाप मानते हैं यह प्रकट सत्य है। इन के ग्रंथ इस बात के साक्षी हैं। उन में ये बातें विस्तार से चर्चीं हुई हैं। भौतिक साधनों से बचाने की बात चल रही है, यह ध्यान रहे।

हमें इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि पं० श्री राजेन्द्र कुमार जी इस बात को स्पष्ट रूप से समझ गये कि आचार्य श्री तुलसी विवादग्रस्त कार्यों का फल सर्वथा पाप मानते हैं तथा इन कार्यों में शुभ योग होना भी नहीं मानते।

इस बात को ले कर इन दोनों विद्वानों में मतभेद हो गया। मतभेद का आभास इस बात में भी मिलता है कि प्रश्नोत्तर प्रकाशित करने के लिए वक्तव्य लिखने का भार पं० राजेन्द्र कुमार जी को सौंपा गया था। वह वक्तव्य जैन संयोजना में प्रकाशित नहीं किया गया है। पं० राजेन्द्रकुमार जी ने अपने वक्तव्य में यह जाहिर करना उचित समझा था कि आचार्य

व्यवस्था नहीं है' सिद्ध कर तो आचार्य श्री तुलसी ने हद कर दी है। अपनी पुरानी मिथ्या परंपरा का समर्थन करने के लिए कितने असत्य का सहारा लेना पड़ता है, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है। सामाजिक दृष्टि कोण में यदि शुभ योग और अशुभ की व्यवस्था नहीं है तो क्या सामाजिक कामों का कुछ फल ही नहीं होता ? क्या ये कार्य निष्फल हैं ? क्या सामाजिक कार्य करने में मन वचन और काया नहीं लगाने पड़ते ? सामाजिक कार्य किसी भावना से ही किये जाते हैं। कर्मों का व्यापार मन से वचन से और काया से होता है। उस व्यापार के पीछे शुभ या अशुभ कुछ तो विचार रहता ही है। आचार्य श्री तुलसी ऐसी बात कह गये जिसे पढ़ कर विचारवान् व्यक्ति कठिनाई से अपनी हंसी रोक सकेगा।

एक चोटी पकड़ने पर मनुष्य का टिक रहना बड़ा कठिन है। परोपकार के कामों में असंयम का पोषण और पाप मात्र की कल्पना कर के आचार्य श्री तुलसी बुरी तरह फंस गये हैं। अपने पूर्वाचार्यों की अपेक्षा तेरापंथ की मान्यता के स्पष्टीकरण के तरीके में जिस प्रकार आचार्य श्री तुलसी ने परिवर्तन किया है, उसी प्रकार अर्थ में भी परिवर्तन करेंगे तब वे विद्वत्समाज में सम्मानित हो सकेंगे।

आचार्य श्री 'आपके अन्धभक्त अनुयायियों' के प्रभाव से प्रभावित होकर लोग आपके समक्ष कुछ नहीं कहते। मगर आप की मान्यताओं के कारण लोगों के मन अच्छे नहीं हैं। जैन धर्म पर भी आज इस कारण आक्षेप करते हैं। आप साधु हैं, सच महाव्रती हैं। इसलिए साधु पद मर्यादा को ध्यान रख कर, ज़िन्दगी में परिवर्तन करते रह सकेंगे। इसके लिए आप को मन की बातें छिपानी पड़ती हैं। मन में कुछ और होता है और अन्दर कुछ और दिखाते हैं।

जो मन में सोइ बैन में, जो बैनिन सोई कर्म।
कहिये ताको संतवर, जा को ऐसो धर्म ॥

यह संत का लक्षण है। किन्तु अपनी पाप मान्यता को छिपाने के लिए आप को इस दोहे के विरुद्ध आचरण करना पड़ता है। ठेठ भीखण जी महाराज से ही यह परिपाटी चली आ रही है कि कुयुक्तियों के जरिये अथवा शब्द छल और अर्थ छल से अपनी मिथ्या धारणाओं को छिपाते भी रहना और पुष्ट भी करते रहना। आप युवक हैं, नई रोशनी में आये हैं, अतः आप से आशा है कि इस परिपाटी को खतम कर देंगे। इसमें आप का तेरापंथी समाज का और दुनिया का भला है।

आचार्य महाराज श्री तुलसीरामजी के उत्तरों की समीक्षा

(समीक्षक—वच्छराज सिंघी सुजानगढ़)

जैन संयोजना समिति दिल्ली द्वारा प्रकाशित जैन संयोजना नामक एक पुस्तिका से ज्ञात हुआ कि श्वेताम्बर जैन समाज के स्थानकवासी आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज और तेरापंथ के आचार्य श्री तुलसी जी महाराज के दरमियान दया दान के विषय पर दिल्ली में प्रश्नोत्तर चले। प्रश्नोत्तरों में श्री तुलसी जी महाराज ने गृहस्थ के लिये निस्वार्थ परोपकार और सेवा के कार्य करने में यानी दया-दान में एकान्त पाप और अधर्म मानने वाले अपने सिद्धान्तों को कैसी शब्द चातुरी से जन साधारण के समक्ष ढकने का प्रयत्न किया है। इस लेख में यही हमारे विचारने का प्रयोजन है।

सब से पहिली बात तो यह है कि स्थानकवासी समाज ने प्रश्नों के नीचे जो नोट दिया है उस में यह स्पष्ट अनुरोध है कि उत्तर देने में टेढ़ी-मेढ़ी भाषा में भावों को छिपाने की कोशिश न हो, पुण्य-पाप, निर्जरा, सम्वर जो कुछ हो उत्तर में दो टुक शब्द अपेक्षित हैं। लम्बी व्याख्या में उत्तर देकर प्रश्न को कुचक्र में न डाला जाय आदि। परन्तु आचार्य श्री तुलसी जी महाराज ने समस्त प्रश्नों के उत्तर देने में स्थानकवासी समाज के अनुरोध की अवहेलना की है। असली भाव प्रकाश में न आवे जैसे उत्तर देने का प्रयास किया है। तेरापंथ सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य श्री भीषण जी महाराज से लगा कर आज तक जिस परोपकार कार्यों के करने में तेरापंथी एकान्त पाप होना मानते और कहते आये हैं—उनमें अब पाप शब्द के स्थान पर "लौकिक पुण्य कार्य" ऐसा एक नया शब्द रच कर जन साधारण के समक्ष रखना यह एक भुलावे में डालने

प्रथम आचार्य श्री भीषण जी महाराज तथा चौथे पट्टधर श्री आचार्य श्री जीतमल जी महाराज की रची हुई पुस्तकों और ढालों में अनेक स्थानों में परोपकार और सेवा के कामों के करने में गृहस्थ के लिये पाप होना बताया है। जिन में से कुछ प्रमाण यहाँ दिये जा रहे हैं।

"साधु थी अनेरा कुपात्र छै। अनेरा ने दीधा अनेरी प्रकृतिनो बन्ध कह्यो ते अनेरी प्रकृति पापनी छै।"

आचार्य श्री जीतमल जी कृत "भ्रम विध्वंसनम्" पृष्ठ ७६

अर्थात्—साधु के सिवाय बाकी सब मनुष्य कुपात्र हैं। उन्हें दान देने से पाप होता है।

"कुपात्र दान कुक्षेत्र कह्या, कुपात्ररूप कुक्षेत्र में पुण्य बीज किम उपजे ?"

"भ्रमविध्वसनम्" पृष्ठ ८०

अर्थात्—कुपात्र को दान देना तो खराब खेत में बीज बोना है। वहाँ पुण्य बीज कैसे उत्पन्न हो सकता है ? यानि नहीं होता।

"कुपात्र दान, मांसादिक सेवन, व्यसन कुशीलादिक यह तीनों एक ही मार्ग के पथिक हैं जैसे चोर, जार, ठग यह तीनों समान व्यवसाई हैं उसी तरह कुपात्र दान भी मांसादि सेवन व्यसन कुशीलादि की श्रेणी में गणना करने योग्य हैं।

भ्रमविध्वंसनम्, पृष्ठ ८२

अर्थात्—उपर्युक्त कथनों से यही सिद्ध होता है कि तेरापंथी साधुओं के सिवाय संसार के सब मनुष्य कुपात्र हैं और कुपात्रदान, मांसादिक सेवन, व्यसन कुशीलादि तीनों एक ही मार्ग के पथिक हैं जैसे चोर जार ठग यह तीनों समान

घले स्यांधे कावड़ लियां फिरे त्यांरी,
घले दोनों वक्ते स्नान कराई ताई॥
ओ उपकार संसार तणो छे।

—अनुकम्पा ढाल ११ कड़ी १८

अर्थात्—कोई गृहस्थ दिन रात माता-पिता की सेवा करता है। उन्हें रुचि के अनुसार भोजन कराता है, कावड़ में उठाये फिरता है, दोनों वक्त स्नान कराता है तो यह सब उपकार संसार के हैं, जो दुर्गतियों में भटकाने वाले हैं।

गृहस्थने औषध भेषज देईने, अनेक उपाय करी जीव बचावे।
यह संसार तणो उपकार किया में मुक्तिरो मारग मूढ बतावे॥

—अनुकम्पा ढाल ८ कड़ी ५

अर्थात्—औषधादि देकर अथवा अन्य उपायों से गृहस्थ का जीवन बचाना संसार बढ़ाने वाला पापकारी उपकार है। मूढ़ लोग इसको मुक्ति का मार्ग यानि धर्म बता रहे हैं।

दुखिया और दरिद्री देखी अनुकम्पा उणरी मन आणी।
गाजर मूलादिक सचित खुवावे, वले पावे उणे काचो पाणी॥
आ अनुकम्पा सावज जाणो।

—अनुकम्पा ढाल १ कड़ी १६

अर्थात्—दरिद्री और दुखियों को देखकर उनकी अनुकम्पा करके गाजर आदि वनस्पति खिलावे और पानी पिलावे तो यह पापकारी दया है।

व्याधि अनेक कोढादिक सुणने, तिण ऊपर वैद चलाई न आवे।
अनुकम्पा आणी साझो दीधो, गोली चूरण दे रोग गमावे॥
आ अनुकम्पा सावज जाणो।

—अनुकम्पा ढाल १ कड़ी २४

अर्थात्—कुष्टादिक कठिन रोग से पीड़ित रोगियों को सुनकर कोई वैद्य दयाभाव से उनको गोली चूर्ण देकर रोग रहित कर दे तो यह दया पापकारी दया है।

लाय लागी जो गृहस्थ देखे तो तुरत बुझावे छःकाय ने मारी।
यह सावद्य कर्त्तव्य लोक करे छे, तिण में धर्म कहे सांगधारी॥
—अनुकम्पा ढाल ८ कड़ी ५२

अर्थात्—लाय (आग) लगी हुई गृहस्थ देखता है तो फौरन वह छःकाय पृथ्वी आदि के जीवों को मार कर उसे बुझाता है। ऐसे पाप पूर्ण कार्य को स्वांगधारी साधु धर्म कहते हैं।

कुपात्र दान में पुण्य परूपे, तिणसूं लोक हणे जीवाने विशेषो।
कुगुरु एहवा चाला चलावे, ते भ्रष्ट हुआ लेई साधुरो भेषो॥
—अनुकम्पा ढाल १३ कड़ी ६

अर्थात्—कुपात्रदान में पुण्य बताने से लोग जीवों को विशेष मारते हैं। पुण्य बताकर यह लोग साधु के भेष में भ्रष्ट होते हैं।

कुपात्र जीवांने बचावियां, कुपात्र ने दियां दानजी।
ओ सावद्य कर्त्तव्य संसारनो, भाख्यो छे भगवानजी॥
—अनुकम्पा ढाल १२ कड़ी १०

अर्थात्—कुपात्र जीवों को मरने से बचाना, कुपात्र को दान देना यह संसार का पापमय कार्य है।

असंजती जीवरो जीवणो, तो सावद्य जीवव्य साख्यातजी।
तिणने देवे ते सावद्य दान छे, तिणमें धर्म नहीं अंशमातजी॥
—अनुकम्पा ढाल १२ कड़ी ४०

अर्थात्—असंयमी यानि तेरापंथी साधु से अन्य सबका जीवन पापमय है। उनको देना एकान्त पापमय दान है। उसमें धर्म का अंश मात्र नहीं है।

असंजती ने दान दियां में, धर्म पुण्य कांई थापो रे ?
श्री वीर कह्यो भगवती मांही निर्जरा नहीं एकान्त पापोरे ॥
—चतुरविचार की ढाल १ कड़ी ८३

अर्थात—हे लोको ! असंजती को दान देने में क्यों धर्म या पुण्य बता रहे हो ? भगवान् ने इसको एकान्त पाप कहा है।

असंजती रा जीवन मध्ये धर्म नहीं अंश मातजी।
दान देवे छे तेहने, ते पण सावद्य साक्षातजी ॥
—अनुकम्पा ढाल १३ कड़ी ६२

संसार तणो उपकार कियां में केई मूढ मिथ्यात्वी धर्म बतावे।
श्री जिन मार्ग ओलखिया बिन मन माने जू गोल चलावे ॥
संसाररो उपकार किया में जिन धर्मरो नहीं अंश लिगार।
संसार तणा उपकार कियां में धर्म कहे तो मूढ गंवार ॥
—अनुकम्पा ढाल ११ कड़ी ३७-३८

अर्थात्—संसार का उपकार करने में धर्म बताने वाले व्यक्ति 'जिन' धर्म को नहीं जानते। ये मूढ मिथ्यात्वी, गंवार हैं।

श्रावक तो असंजती अव्रती छे ते रुड़ी रीति पहिचानो रे।
श्रावक ने दान दे तिणरी करे प्रशंसा ते परमार्थरा अजाणोरे ॥
—चतुर विचार ढाल ३ कड़ी ३८

अर्थात्—श्रावक (गृहस्थ) तो असजती, अव्रती हैं; यह अच्छी तरह समझ लो-उनको दान देने की जो प्रशंसा करते हैं वे अज्ञानी हैं।

रांकां ने मार धींगा ने पोपे आ तो बात दीसे घणी गहरी।
इण मांही दुष्टि धर्म परूपे तो रांक (गरीब) जीवों के शत्रु हैं भारी।

अनुकम्पा ढाल ११ कड़ी ४

गरीब वनस्पति आदि स्थावर जीवों को मार कर शैतान पंचेन्द्रिय जीवों का जो पोषण करते हैं वे रांक (गरीब) जीवों के शत्रु हैं।

> क्यू छःकायना हिंसक भणी जे नर पोपे आण।
> ते वेरी षट कायनो प्रत्यक्ष हिय पिछाण ॥ ८॥
> हणणहार षट कायनो तसु पोपे किये सूर।
> तिण कारण जीवां तणो वेरी ते भरपूर ॥ ६॥
>
> —भिक्षुजश रसायन ढाल १८

अर्थात्—छःकाय के हिंसक का पोषण करके सबल बनाने वाला छही काय का शत्रु है।

> जो आरंभ सहित जीवणो असंजतीरो जाण।
> जिण वांछ्यो एह जीवणो तिण वांछ्यो आरम्भ ॥ ८॥
>
> —भिक्षुजशरसायन पृष्ठ ६६

अर्थात्—असंयती का जीवन आरम्भ (१८ पाप) सहित होता है इसलिए उसके जीवन की कामना करना आरम्भ का अनुमोदन करना है।

> सावद्य दान सरधायवा दिया भिक्षु दृष्टान्त।
> खेत बायो एक करसनी पाको खेत अत्यन्त ॥ १॥
> इतले धनीरे बालो हुवो दुश्मण आयो देख।
> किणहिक औषध दे करी सातरो कियो विशेष ॥ २॥
> ताजो हुवो तिण अवसरे खेत काट्यो धरी हम्स।
> साज देने वालाने सही लागे पाप एकान्त ॥ ३॥

(४) चौथे और पाँचवें प्रश्न के उत्तर में भी वही बात है जैसी अन्य में है।

(६) छठे प्रश्न के उत्तर में आचार्य श्री तुलसी जी महाराज लिखते हैं कि "अनुकम्पा बुद्धि से मरते जीव को बचा लेना भी अहिंसा है बशर्तेकि उसमें हिंसा और असंयम का पोषण न होता हो। अहिंसात्मक साधनों से होने वाली प्राणरक्षा हिंसा नहीं है चाहे वह किसी की भी हो।" कैसी भेदभरी चतुराई का उत्तर दिया है आचार्य महाराज ने। जो व्यक्ति तेरापन्थ के सिद्धान्तों को भलीभांति नहीं जानता वह लख ही नहीं सकता कि इसमें क्या चतुराई है। आचार्य महाराज ने जो शर्त रखी है कि "उसमें हिंसा और असंयम का पोषण न होता हो।" यही चतुराई है। तेरापन्थ की यह स्पष्ट मान्यता है कि मरते जीव (पशु, पक्षी और संसारी मनुष्य) को कोई भी व्यक्ति अहिंसात्मक साधनों से नहीं बचा सकता। तेरापन्थ की मान्यता में जीव बचाने में असंयम और हिंसा का पोषण होना निश्चित है। आचार्य महाराज से हमारा निवेदन है कि कृपा करके आप एक भी उदाहरण देकर बतावें कि अमुक प्रकार से अहिंसात्मक साधनों से मरता हुआ पशु, पक्षी और गृहस्थ मनुष्य बचाया जा सकता है।

(७) सातवें प्रश्न का उत्तर भी आचार्य श्री तुलसी जी महाराज ने वही भेदभरी चतुराई से दिया है कि "जो जहाँ अहिंसात्मक होते हैं वे वहाँ पुण्य के कारण हैं" तेरापन्थ की मान्यता के अनुसार लौकिक उपकार और सांसारिक कर्त्तव्य आदि अहिंसात्मक हो ही नहीं सकते। यह उत्तर भी भुलावे में डालने वाला है। इसके लिये भी आचार्य महाराज से अनुरोध है कि कृपा करके उदाहरण देकर बतावें कि लौकिक उपकार

महाराज ने उनके साथ न्याय नहीं किया है। स्थानकवासी प्रकट रूप से परोपकार के (दया दान के) कार्मों में पुण्य मानते हैं और आप पाप। फिर भी उनके लिए शरीर पोषण और शरीर रक्षण की बात कहना तथा अपने लिए अहिंसा और संयम निर्वाह की बात कहना सत्य से परे है। जहां तक मैं समझता हूं स्थानकवासियों का दया दान सम्बन्धी दृष्टिकोण जैन धर्म के सर्वथा अनुकूल है। जबकि आप का जैन धम से सर्वथा विपरीत है।

समिति के सदस्यों से निवेदन

जैन संयोजना समिति दिल्ली के विद्वान सदस्यों ने आखिर इन प्रश्नोतरों से क्या निर्णय किया, यह इस "जैन संयोजना" पुस्तिका में बताया हुआ नहीं है। अतः अनुरोध है कि वे भी अपना निर्णय देकर जन साधारण की जिज्ञासा को पूरा करें कि उनकी राय में संसार के उक्त परोपकार और सेवा के कार्यों के करने में एक सद्गृहस्थ को क्या फल होता है? –धर्म, पुण्य या पाप!

समाप्त

१. ११. ५० } द० बच्छराज सिंघी